संपूर्ण लघु कथाएँ

विष्णु प्रभाकर

उस दिन उनके घर में हर्षोल्लास का माहौल था। उन्होंने गत वर्ष जो मकान खरीदा था, उसको तोड़ने पर दीवारों में से अपार अनर्जित संपदा उन्हें प्राप्त हुई थी।

उस मकान का पूर्वकालिक स्वामी, कभी जिसके ऐश्वर्य और विलास की सीमा नहीं थी, सरकारी अस्तपाल के छोटे से कमरे में पड़ा था। वह अभी-अभी मृत्यु के मुँह से लौटा था। सभी मित्र-परिजन, यहाँ तक कि उसके पुत्र भी, उसे छोड़ गए थे। केवल उसकी पत्नी किसी स्कूल में पढ़ाकर किसी तरह उसकी देखभाल कर रही थी। घर लौटते समय उसने अपार संपदा पाए जाने का यह समाचार सुना और पति से कहा, ''दीवारों में संपदा छिपी है—काश, यह बात हम जान पाते!''

पति ने धीरे से कहा, ''अच्छा हुआ, जो मैं न जान पाया। मैं अब जान पाया हूँ कि मैंने मकान बेचकर सुख पाया है। उसने मकान खरीदकर सुख खोया है। पसीना बहाकर जो तुम कमाकर लाती हो, उसी ने मुझे जीवन दिया है। इससे बड़ा ऐश्वर्य कुछ हो सकता है, मैं नहीं जानता।''

मंद-मंद मुसकराते हुए पत्नी ने पति की आँखों में झाँका और उनका माथा सहलाते हुए प्यार भरे स्वर में कहा, ''मैं यही सुनना चाहती थी।''

—इसी पुस्तक से

मसिजीवी रचनाकार विष्णु प्रभाकरजी ने कहानियाँ, उपन्यास, नाटक आदि ही नहीं लिखे, बल्कि विपुल मात्रा में लघुकथाएँ भी लिखी हैं। 'देखन में छोटी लगें, घाव करें गंभीर' को चरितार्थ करनेवाली ये लघु कथाएँ मानवीय संवेदनाओं को स्पर्श करती हैं और रोचक, मनोरंजक एवं शिक्षाप्रद हैं।

F ** ⊙ ⊙
Prabhakar, Vishnu
Sampurna laghu kathaen / Vishnu Prabhakar. - Delhi :
Prabhat Prakashan, 2009. - 200 p. ; 23 cm.
ISBN: 9788173157141
Hindi text; Short stories.
CILLA: vz0940290X
MBC ; 094/32 ; £14.20

H-32
LB

London Borough
of Hounslow

Hounslow Library Services

This item should be returned or renewed by the latest date shown. If it is not required by another reader, you may renew it in person or by telephone (twice only). Please quote your library card number. A charge will be made for items returned or renewed after that date due.

Return	23/4/2016		
			P10-L-2138

C0000 002 278 453

Digitized by the Internet Archive
in 2023 with funding from
Kahle/Austin Foundation

https://archive.org/details/sampoornalaghuka0000x935

विष्णु प्रभाकर
संपूर्ण लघुकथाएँ

C0000002278453

संपूर्ण लघुकथाएँ

विष्णु प्रभाकर

प्रभात प्रकाशन, दिल्ली™
ISO 9001:2008 प्रकाशक

प्रकाशक • **प्रभात प्रकाशन**™
४/१९ आसफ अली रोड,
नई दिल्ली-११०००२
सर्वाधिकार • सुरक्षित
संस्करण • प्रथम, २००९
मूल्य • दो सौ पच्चीस रुपए
मुद्रक • नरुला प्रिंटर्स, दिल्ली

SAMPOORNA LAGHU KATHAYEN *by* Vishnu Prabhakar   Rs. 225.00
Published by Prabhat Prakashan, 4/19 Asaf Ali Road, New Delhi-2
ISBN 978-81-7315-714-1

LB

अनुक्रम

१.	भला काम	९
२.	इतनी सी बात	११
३.	मुक्ति	१३
४.	ईर्ष्या	१५
५.	अतिथि	१७
६.	क्षमा	१९
७.	चोर की ममता	२१
८.	अनोखा दंड	२३
९.	अहंकार का नाश	२५
१०.	घृणा पर विजय	२८
११.	डॉक्टर और चोर	३०
१२.	इनसान	३२
१३.	चोरी का अर्थ	३४
१४.	गुण-ग्राहक	३५
१५.	सेवा-भाव	३७
१६.	पश्चात्ताप	३९
१७.	सौ रुपए का नोट	४१
१८.	वीर माता	४२
१९.	सबसे बड़ा शिल्पी	४४

२०.	ऋणी	४७
२१.	सहानुभूति	४९
२२.	कर्तव्य-निष्ठा	५०
२३.	बड़ा दिल	५१
२४.	अपनी-अपनी समझ	५३
२५.	सहिष्णुता	५४
२६.	पत्थर	५६
२७.	शांति की राह	५८
२८.	निर्भयता	६०
२९.	ईश्वर का चेहरा	६१
३०.	फर्क	६२
३१.	दो यात्राओं का अंतर	६४
३२.	आपन जन	६५
३३.	दोस्ती	६७
३४.	वह बच्चा थोड़े ही न था	६९
३५.	मुहब्बत	७०
३६.	पीरीन पियारे पिराणनाथ	७२
३७.	जाति या जान	७४
३८.	कौन जीता, कौन हारा	७६
३९.	ना जाने केहि वेश में	७८
४०.	सबसे तेज गति : मन की	७९
४१.	अयाचित सुख	८१
४२.	पूज्य पिताजी	८३
४३.	मेरा यक्ष	८५
४४.	अतिरिक्त लाभ और उदारता	८७
४५.	खोना और पाना	८८
४६.	शैशव की ज्यामिति—तीन कोण	८९
४७.	वह शरारत	९१

४८.	पाप की कमाई	९३
४९.	आपकी कृपा है	९५
५०.	पानी की जाति	९६
५१.	रोटी या पाप	९८
५२.	चुटकी	९९
५३.	दान	१००
५४.	शैशव का भोलापन	१०२
५५.	भगवान् और पुजारी	१०३
५६.	खद्दर की धोती	१०४
५७.	और बहन राह देखती रही	१०६
५८.	प्रेम की भेंट	१०७
५९.	तो अच्छा	१०९
६०.	शैशव	११०
६१.	सीमा	१११
६२.	तर्क का बोझ	११३
६३.	ब्रह्मानंद सरोवर—एक अनुभूति	११६
६४.	कोशिश	११७
६५.	नपुंसक	११८
६६.	संवेदन	११९
६७.	मूक शिक्षण	१२०
६८.	लीक से हटकर	१२२
६९.	आचरण की सभ्यता	१२४
७०.	धातु और रुपया	१२५
७१.	आधा किलो सम्मान	१२७
७२.	व्यवस्था का राजदार	१३०
७३.	छोटी नोटबुक	१३१
७४.	प्रेरणा	१३२
७५.	पहचान	१३३

७६.	किस्मत की फाइल	१३५
७७.	नाम और काम	१३७
७८.	आँखों देखा झूठ	१३८
७९.	बिंध गया सो मोती	१४०
८०.	दो बच्चों का घर	१४२
८१.	ममता	१४४
८२.	धर्मराज के अवतार	१४८
८३.	मणि का प्रभाव	१५०
८४.	धन्य है आपकी परख	१५२
८५.	दो दोस्त	१५४
८६.	पूछने का सुख	१५७
८७.	एक और विवाह	१५८
८८.	आदमी का काम चलना	१५९
८९.	चोट सही जाती है, कही नहीं जाती	१६०
९०.	आप क्या माँ नहीं हैं	१६१
९१.	बड़ा कौन	१६३
९२.	नाम की प्यास	१६५
९३.	मेरा लाल राजा से भी बड़ा	१६७
९४.	पिता और पुत्र	१७०
९५.	ब्राह्मण कौन	१७३
९६.	यक्ष और युधिष्ठिर	१७६
९७.	पतिव्रता का प्रभाव	१७९
९८.	धन का लोभ	१८१
९९.	व्रत का पारण	१८४
१००.	संवेदना के अटपटे सूत्र	१८७
१०१.	दो चित्र	१९०

भला काम

एक सज्जन को किसी आवश्यक काम से कहीं जाना था, लेकिन वह अभी स्टेशन से दूर थे कि उस स्थान को जानेवाली बस चल पड़ी। यह देखकर वह दौड़े। उन्हें बस तो मिल गई, पर उनके हाथ में चमड़े का जो थैला था, वह नीचे गिर पड़ा। वहाँ पर एक बालचर खड़ा था। उसने थैले को गिरते हुए देखा और यह भी कि बस उसकी पहुँच से बाहर निकल चुकी है।

वह काफी बड़ा नगर था और उस थैले पर उन सज्जन का पूरा पता भी नहीं था। ऐसी हालत में उनको ढूँढ़ना सरल काम नहीं था, फिर भी उस बालचर ने उन्हें ढूँढ़ निकाला। जब वह उनके पास पहुँचा तो थककर चूर हो चुका था; पर इस बात की चिंता किए बिना उसने नम्रतापूर्वक उनसे कहा, ''जब आप बस में सवार हो रहे थे तब आपका थैला गिर गया था।'' और यह कहकर उसने वह थैला उन्हें दिखाया। वह उन्हीं का था। वह उसे खोया हुआ समझ चुके थे और बहुत परेशान थे। उसे पुनः पाकर वह बहुत प्रसन्न हुए और गद्‌गद होकर बोले, ''तुम इसे वहाँ से लेकर भागे आ रहे हो?''

''जी हाँ,'' बालचर ने कहा, ''यह आपका ही तो है?''

''हाँ, यह मेरा ही है,'' उन सज्जन ने उत्तर दिया, ''पर तुम जानते हो, इसमें क्या है?''

बालचर बोला, ''जी, नहीं। मुझे यह जानने की जरूरत नहीं है।''

वह सज्जन हँसे और बोले, ''इसमें तीन सौ रुपए हैं।''

बालचर ने जवाब दिया, ''जी, तो इसी में होंगे।''

तब तक वह सज्जन थैले को खोलकर उसके अंदर की सब चीजों को जाँच चुके थे। मुस्कराकर बोले, ''हाँ प्यारे बच्चे, सबकुछ ठीक है और रुपए भी ठीक हैं।''

और यह कहते हुए उन्होंने तीस रुपए के नोट बालचर की ओर बढ़ाए, ''मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ। लो, ये रुपए तुम्हारे लिए हैं।''

बालचर कुछ घबराया। बोला, ''मेरे लिए! किसलिए?''

सज्जन—''इसलिए कि तुमने एक भला काम किया है।''

बालचर—''सच!''

सज्जन—''हाँ, यह भला काम है।''

''तब ठीक है,'' बालचर ने प्रसन्न होकर कहा, ''मैं बालचर हूँ और बालचर का कर्तव्य है कि वह प्रतिदिन एक भला काम करे। आप इसे भला काम कहते हैं तो मैंने आज का अपना कर्तव्य पूरा किया। इसके लिए मैं आपको धन्यवाद देता हूँ।''

और फिर उनके उत्तर की राह देखे बिना वह बालचर उन्हें प्रणाम कर, जिस मार्ग से आया था, उसी से लौट गया। हाथ में नोट लिये वह सज्जन उस ओर देखते ही रह गए।

□

इतनी सी बात

भारत की राजधानी में एक दिन एक गली के आगे अचानक थोड़ी-सी भीड़ इकट्ठी हो गई। एक राहगीर ने उचककर देखा—एक रिक्शावाला एक स्त्री से झगड़ रहा है।

रिक्शावाले ने कहा, ''मैं आगे नहीं जाऊँगा। मुझे मेरे पैसे दो।''

स्त्री बोली, ''मेरे साथ घर तक चलो तो मैं तुम्हें पैसे दूँ। यहाँ तो मेरे पास कुछ नहीं है।''

''मैं आगे नहीं जाऊँगा।'' रिक्शावाले ने तेज स्वर में जवाब दिया।

''तो मैं पैसे भी नहीं दूँगी।'' स्त्री ने उसी स्वर में कहा।

इसी बात पर गरमी बढ़ रही थी। राहगीर ने सोचा—यह बात तो झगड़ने के लिए काफी नहीं है। मामला कुछ और है, इसलिए वह भीड़ को हटाकर आगे बढ़ आया और पूछा, ''क्या बात है? कैसी लड़ाई है?''

भीड़ में से एक व्यक्ति बोला, ''बात बड़ी साधारण है। यह स्त्री रिक्शा में बैठकर यहाँ तक आई थी। यहाँ उतरकर जब इसने पैसे देने के लिए गाँठ खोली तो उसमें बँधी हुई एकमात्र चवन्नी नाली में जा गिरी।''

दूसरे व्यक्ति ने कहा, ''और रिक्शावाला उसे निकालने को तैयार नहीं है।''

इस पर रिक्शावाले ने तिनककर कहा, ''नहीं, मैं उसे नहीं निकालूँगा। मुझे आपने क्या समझा है? मैं गंदी नाली में हाथ नहीं डाल सकता। यह भंगी का काम है।''

राहगीर बोला, ''बात तो ठीक है। गंदी नाली में कौन हाथ दे?''

भीड़ में से अनेक व्यक्तियों ने उसका समर्थन किया। एक ने कहा, ''जी हाँ, भंगी होता तो निकाल देता। अब तो यही हो सकता है कि रिक्शावाला इस स्त्री

के घर तक जाए और पैसे ले ले।"

स्त्री बोली, "हाँ, मैं दो पैसे ज्यादा दे सकती हूँ।"

पर रिक्शावाले ने उसी तल्खी से कहा, "मेरे साथ यहीं तक आने की बात हुई थी। मैं यहीं पैसे लूँगा।"

अजीब समस्या थी। कुछ रिक्शावाले को कोस रहे थे, कुछ स्त्री को कहते थे, पर नाली में से चवन्नी निकालने को कोई तैयार नहीं। वह दयालु राहगीर भी नहीं। आखिर उसने रास्ता निकाला, बोला, "रिक्शावाले, तुम्हारे पैसे मैं देता हूँ।"

यह सुनकर स्त्री एकदम तड़प उठी, कहा, "नहीं-नहीं, मैं किसी के पैसे नहीं लूँगी। इसे मेरे घर तक चलना होगा।"

रिक्शावाला क्रुद्ध हुआ, बोला, "मैं यहाँ से आगे एक कदम भी नहीं चलूँगा।"

बात फिर बढ़ी। गरमी भी बढ़ी और भीड़ भी। तभी अचानक भीड़ को चीरता हुआ एक युवक आगे बढ़ आया। उसने नाली में झाँककर चवन्नी को देखा। वह किनारे की मिट्टी में आधी गड़ी हुई थी। बस उसने ढक्कन उठाया और खूब नीचे झुककर चवन्नी उठा ली। उसका हाथ गंदे पानी में सन गया।

पास ही एक लुहार की दुकान थी। वह इस दृश्य को देख रहा था। उसने उस युवक को पुकारकर कहा, "इधर आ बेटे, पानी देता हूँ। हाथ धो डाल।"

युवक ने हाथ धोकर वह चवन्नी स्त्री को दे दी और बिना एक शब्द बोले अपने रास्ते पर आगे बढ़ गया।

तब छँटती हुई भीड़ में से एक व्यक्ति ने लंबी साँस लेकर कहा, "इतनी सी बात थी।"

□

मुक्ति

उसे रह-रहकर बीते दिनों की याद आ जाती थी। उसका गला भर आता था और आँखों से आँसू टपकने लगते थे। उसे मुक्त हुए अभी बहुत दिन नहीं बीते थे। उसकी मुक्ति किसी एक की मुक्ति नहीं, बल्कि सारी जाति की मुक्ति थी।

वह अमेरिका का रहनेवाला एक नीग्रो था। उन दिनों अमेरिका में नीग्रो और दासता का एक ही अर्थ समझा जाता था, परंतु उसी अमेरिका में एक ऐसा इनसान पैदा हुआ, जो उस दासता को मिटाने के लिए अपना खून बहाने से भी नहीं डरा। वह इनसान था अब्राहम लिंकन। उसने नीग्रो जाति से कहा, ''कोई किसी को दास नहीं बना सकता। अपने जीवन को बनाने और बिगाड़ने के लिए आप सब स्वतंत्र हैं!''

उसकी कोशिशों से नीग्रो जाति दासता से मुक्त हो गई, लेकिन मुक्त हो जाने से पेट का सवाल हल नहीं होता। उसके लिए रोजगार चाहिए। उसी रोजगार की खोज में वह नीग्रो घूम रहा था। जहाँ भी पता चलता, वह जाता और पूछता, ''कोई काम है?''

पर हर जगह उसे एक ही उत्तर मिलता, ''यहाँ कोई काम नहीं है, आगे बढ़ो।''

वह आगे बढ़ जाता। घूमते-घूमते उसके वस्त्र फट गए, पैरों में बिवाइयाँ पड़ गईं, शरीर थककर चूर हो गया। उसके लिए अब एक कदम भी आगे बढ़ना दूभर था, पर उसे तो आगे बढ़ना था। वह रुक कैसे सकता था! रुकना मौत है, इसलिए वह बराबर बढ़ता गया। अचानक एक दिन उसकी भेंट पुरानी मालिक-जाति के एक व्यक्ति से हो गई। नीग्रो की यह दुर्दशा देखकर वह व्यक्ति बहुत दुःखी हुआ, बोला, ''तुम्हारी यह क्या दशा हो गई है? जान पड़ता है, तुम बड़ी

मुसीबत में हो।''

नीग्रो बोला, ''जी हाँ, काम नहीं मिलता। जीना मुश्किल हो गया है।''

वह मुस्कराया, ''पिछले दिनों तो तुम ऐसे नहीं थे?''

''पिछले दिनों!'' नीग्रो ने लंबी साँस लेकर कहा, ''उन दिनों मुझे बहुत आराम था। मेरा स्वामी बड़ा दयालु था। वह मुझे कभी कठिन काम नहीं देता था। वह मुझे कभी कोड़ों से नहीं पीटता था।''

यह सुनकर मालिक-जाति का वह व्यक्ति और भी सहानुभूति से भर उठा, बोला, ''तब तो यह मुक्ति तुम्हें महँगी पड़ी। तुम लोग पहले ही अच्छे थे।''

न जाने क्या हुआ, न जाने उस कंकाल में कहाँ से जीवन उमड़ आया, वह नीग्रो जल्दी से उठा और दरवाजे की ओर चल दिया। वह लड़खड़ा रहा था, पर उसकी आँखों में प्रसन्नता की एक तेज रोशनी चमकने लगी थी। दरवाजे पर आकर वह क्षण भर के लिए रुका, बोला, ''जी नहीं। तब हम दास थे, अब मुक्त हैं। अपना जीवन बनाने और बिगाड़ने के लिए मुक्त हैं। मुक्ति इनसान के जीवन की शर्त है।''

यह कहकर वह रुका नहीं, दृढ़ता से अपने रास्ते पर आगे बढ़ गया। मालिक-जाति के उस व्यक्ति को ऐसा लगा, जैसे किसी ने उसके गाल पर जोर से तमाचा मार दिया हो।

□

ईर्ष्या

देवगुरु बृहस्पति के एक भाई थे। उनका नाम था संवर्त। वह विद्वान् थे, और सज्जन भी। इसी कारण बृहस्पति उनसे जलते थे और उन्हें तरह-तरह के कष्ट देते थे। आखिर तंग आकर संवर्त घर से भाग गए। उन्हीं दिनों इक्ष्वाकु वंश के राजा मरुत ने एक महायज्ञ का आयोजन किया और देवगुरु से यज्ञ कराने की प्रार्थना की। देवगुरु को भय हुआ कि यह यज्ञ करने के बाद राजा मरुत देवराज से अधिक यश प्राप्त कर लेंगे, इसलिए उन्होंने यज्ञ कराने से इनकार कर दिया। राजा मरुत तब संवर्त के पास पहुँचे। उनके बार-बार आग्रह करने पर अंततः संवर्त राजी हो गए।

यह समाचार जब बृहस्पति को मिला तो उनकी ईर्ष्या का पार नहीं रहा। उनकी देह की कांति फीकी पड़ गई। देवराज ने यह देखा तो बहुत चिंतित हुए। उन्होंने आचार्य को बुलवाया और उनका आदर-सत्कार करके बोले, ''आचार्य, आप परेशान क्यों हैं? सेवक लोग आपकी सेवा-टहल तो ठीक तरह से कर रहे हैं न? कहीं किसी से कोई अपराध तो नहीं हुआ?''

बृहस्पति ने उत्तर दिया, ''देवराज, मैं कोमल शय्या पर बड़े आराम से सोता हूँ। सेवक बड़े प्रेम से सेवा-टहल करते हैं। किसी के व्यवहार में कोई अंतर नहीं आया है।''

''तब वह क्या बात है, जो आपको इतना व्यथित कर रही है? आप निःसंकोच मुझसे कहिए।''

देवराज के बहुत आग्रह करने पर बृहस्पति ने कहा, ''मेरा भाई संवर्त राजा मरुत के महायज्ञ का पुरोहित बना है। यह मुझसे सहन नहीं हो रहा। यही मेरे दुःख का कारण है।''

देवराज ने सुना तो चकित हो उठे। वह कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि

जिन देवगुरु को सबकुछ प्राप्त है, वह अपने भाई के इस यश से इतने दुःखी होंगे। उन्होंने देवगुरु को समझाने का प्रयत्न किया। देवगुरु मुस्कराए और बोले, "देवराज, अपने किसी शत्रु की उन्नति देखकर तुम्हें कितना दुःख होता है! मेरी भी वही स्थिति है। तुमको मेरी सहायता करनी चाहिए।" देवराज क्या कहते! उन्होंने अग्नि को बुलाकर आज्ञा दी, "धरती पर जाकर राजा मरुत का महायज्ञ रोको।"

अग्निदेव तुरंत राजा मरुत की यज्ञशाला में पहुँचे और बोले, "राजन्, देवराज का आदेश है कि तुम संवर्त को पुरोहित पद से हटा दो। यदि तुम चाहोगे तो मैं बृहस्पति को पुरोहिताई करने को राजी कर दूँगा।"

संवर्त वहीं थे। दृढ़ स्वर में बोले, "आप ऐसी बात न कहें। मुझे अगर क्रोध आ गया तो मैं आपको अपनी दृष्टि से ही जलाकर भस्म कर दूँगा।"

ब्रह्मचर्य की शक्ति अग्नि को भस्म कर देती है। अग्निदेव भय के मारे काँपने लगे और बिना कुछ कहे वहाँ से वापस देवराज के पास पहुँचे। देवराज ने उनकी बातें सुनीं, सोचा, फिर एक गंधर्व को बुलाकर आज्ञा दी, "राजा के पास जाओ और कहो कि यदि उन्होंने संवर्त का साथ न छोड़ा तो मैं उनका शत्रु बन जाऊँगा और फिर उनका सर्वनाश निश्चित है।"

लेकिन राजा मरुत अब भी इंद्र की बात स्वीकार न कर सके। बोले, "संवर्त मेरे मित्र हैं। मैं उनका साथ नहीं छोड़ सकता।"

गंधर्व ने कहा, "राजन, जब इंद्र तुम पर वज्र से प्रहार करेंगे तब तुम कैसे बचोगे?"

गंधर्व अपनी बात पूरी भी न कर पाया था कि आकाश में इंद्र के वज्र की कड़क सुनाई देने लगी। राजा का हृदय दहल उठा। वह तुरंत संवर्त की शरण में पहुँचे। संवर्त ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा, "भय मत करो। मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।"

और संवर्त ने अपनी तपस्या के बल पर इंद्र के वज्र को आकाश में ही रोक दिया। क्षण भर में क्या से क्या हो गया। वही इंद्र जो, आक्रमण करने आए थे, शांति की मूर्ति बन गए। वह नम्रतापूर्वक राजा मरुत के यज्ञ में भाग लेने आए और सानंद हवि ग्रहण कर लौट गए।

□

अतिथि

एक शाम जब ब्रह्मानंद घर लौट रहे थे तो उनकी भेंट एक ऐसे व्यक्ति से हुई, जो बुरी तरह घबरा रहा था। उसके पास कुछ नहीं था और वह धर्मशाला का पता पूछ रहा था। उन्होंने उसे पास की एक धर्मशाला का पता दिया, लेकिन इस पर उसने पूछा, "क्या मैं वहाँ बिना बिस्तर के रह सकूँगा?"

"क्या मतलब?" ब्रह्मनंद ने अचकचाकर कहा।

"बात यह है," उस व्यक्ति ने जवाब दिया, "मैं घर से बिस्तर लेकर नहीं चला था; परंतु धर्मशालावाले उसी को ठहरने देते हैं, जिसके पास बिस्तर होता है।"

"क्यों?"

"वे कहते हैं कि जिनके पास बिस्तर नहीं है, वे या तो चोर हैं या बम-पार्टीवाले क्रांतिकारी।"

यह सुनकर ब्रह्मानंद को हँसी आ गई, पर उन भाई की समस्या काफी उलझी हुई थी। वह सड़क पर पड़े रहें, इसके अलावा और कोई रास्ता नहीं था; पर ऐसे लोगों को पुलिस तंग करती है। तब क्या करें? वे इसी असमंजस में थे कि ब्रह्मानंद ने उनसे कहा, "आइए!"

"कहाँ?"

"मेरे साथ।"

"आपके साथ कहाँ?"

"मेरे घर। मैं यहीं पास में रहता हूँ। मेरे पास ठहरने में तुम्हें कोई दिक्कत नहीं होगी।"

वह व्यक्ति पहले तो कुछ समझा नहीं और जब समझा तो अचरज से काँप उठा। उससे बोला नहीं गया; पर अंधा क्या चाहे—दो आँखें, वह उन्हीं के पास

ठहर गया। उसे दो-तीन दिन का काम था।

अगले दिन अचानक ब्रह्मांनद को एक तार मिला जिसे पंजाब से उनके छोटे भाई ने भेजा था। लिखा था—"माँ सख्त बीमार है, एकदम आओ।" उन्होंने जल्दी-जल्दी सामान बटोरा। गाड़ी जाने में केवल एक घंटा शेष था। उन्होंने उसी गाड़ी से जाने का निश्चय किया, पर वह अतिथि उस समय घर पर नहीं थे और शीघ्र लौटने की कोई आशा भी नहीं थी। तब उन्होंने चुपचाप एक पत्र लिखा, जिसमें तार की चर्चा करके बताया था कि वह आराम से कमरे में रहें और जाते समय ताली पड़ोसी को सौंप जाएँ।

फिर ताला लगा, ताली को चिट्ठी में लपेट उसी स्थान पर रख दिया, जहाँ पर रखने का नियम था। उन्हें आशा थी कि वह दो-तीन दिन में लौट आएँगे, परंतु जब लौटे तो पंद्रह दिन बीत चुके थे। उन्होंने सदा की भाँति पड़ोसी से ताली माँगकर मकान खोला, फिर अपने काम में लग गए।

उनके मस्तिष्क में यह बात बिलकुल ही नहीं आई कि अपने पीछे वह मकान में एक अजनबी अतिथि को छोड़ गए थे। वह अतिथि भी वास्तव में अतिथि था। उसने ब्रह्मानंद से जो कुछ पाया था, उसे वह उसी सुरक्षित अवस्था में वहीं छोड़ गया था।

वह 'जो कुछ' था—'विश्वास'!

□

क्षमा

डोरा दीदी एक प्रसिद्ध नर्स हुई हैं। वह जिस नगर के अस्पताल में काम करती थीं, वहाँ कुछ नागरिक नर्सों से घृणा करते थे। वे उन्हें रोमन कैथोलिक समझते थे, इसलिए उनका वहाँ रहना सहन नहीं कर सकते थे।

वह घृणा ऐसी थी कि डोरा दीदी को सड़क पर चलना कठिन हो जाता था। वहाँ के नागरिक उनका मजाक ही नहीं उड़ाते, बल्कि अवसर देखकर उन पर हाथ भी छोड़ बैठते थे। एक दिन जब वह सड़क से जा रही थीं तो एक युवक ने चिल्लाकर कहा, "देखो, यह दुर्भाग्य की मूर्ति जा रही है। मैं इसे यहाँ नहीं रहने दूँगा।"

यह कहने के साथ ही उसने एक बड़ा सा पत्थर उठाकर बड़े जोर से दीदी के ऊपर फेंका। वह उनके मस्तक में लगा। खून की धारा बह निकली। कपड़े तर हो गए। परंतु वह सदा की तरह शांत रहीं। एक शब्द नहीं बोलीं। चुपचाप अस्पताल लौट आईं।

उस बात को बीते बहुत दिन नहीं हुए थे कि एक दिन वहाँ जो कोयले की खान थी, उसमें जोर का धमाका हुआ। जो मजदूर उस समय वहाँ काम कर रहे थे, उनको बहुत चोटें आईं। वे अस्पताल लाए गए। डोरा दीदी और उनकी दूसरी सहेलियों ने घायलों की सेवा करने में कुछ नहीं उठा रखा। उन्होंने उन पर बराबर स्नेह की वर्षा की और अपनी सेवा से उनका मन मोह लिया। वे लोग उन नर्सों को सदा गाली दिया करते थे। उन्हीं में वह युवक भी था, जिसने एक दिन दीदी पर पत्थर फेंका था। वह उन्हें बहुत अच्छी तरह पहचानता था। उसके मारे हुए पत्थर का निशान उनके मस्तक पर बना हुआ था। वह युवक उस निशान को देखता और सिर से पैर तक सिहर उठता। लेकिन वह समझता था कि दीदी उसे पहचानती

नहीं हैं। पहचानतीं तो इतनी सेवा कैसे करतीं! पत्थर के बदले में उसे स्नेह मिल सकता है, यह कल्पना करने में वह असमर्थ था; लेकिन ज्यों-ज्यों दीदी का स्नेह बढ़ता था, त्यों-त्यों उसके दिल में पछतावे की आग तेज होती जाती थी।

आखिर एक दिन उससे नहीं रहा गया। वह दीदी का हाथ अपने हाथ में लेकर रोने लगा। दीदी सदा की तरह शांत, परंतु स्नेह भरे स्वर में बोलीं, "क्या बात है? तुम रोते क्यों हो? क्या तुम्हें कोई कष्ट है?"

युवक के मुख से एक शब्द नहीं निकला, वह बराबर रोता रहा। दीदी उसके पास बैठ गईं और धीरे-धीरे उसका हाथ सहलाने लगीं। सहलाती रहीं और वह चुपचाप लेटा रहा। जब उसके आँसू कुछ थमे, तब उसने धीरे से पुकारा, "दीदी!"

"कहो!"

"आप मुझे जानती हैं?"

"हाँ, जानती क्यों नहीं!" दीदी ने मुस्कराकर कहा, "तुम कोयले की खान में काम करते हो।"

"नहीं-नहीं," युवक व्यग्रता से बोला, "आप मुझे नहीं जानतीं। मैं…मैं वह युवक हूँ, जिसने आप पर पत्थर फेंका था।"

दीदी ने उसी तरह मुस्कराकर जवाब दिया, "वह भी जानती हूँ। जिस क्षण तुम अंदर लाए गए थे, उसी क्षण मैंने तुम्हें पहचान लिया था।"

"क्या!" युवक बड़े जोर से काँपकर बोला, "यह सब जानकर भी आपने मेरी इतनी सेवा की!"

☐

चोर की ममता

एक बार गंगा-स्नान को जाते समय राजबहादुर अपने कुटुंब से बिछुड़ गया। गंगा नदी उसके गाँव से बहुत दूर नहीं थी। लोग अकसर पैदल चल देते थे और अगर बैलगाड़ी पर भी जाते तो पुरुष रास्ते का बड़ा हिस्सा पैदल चलकर पूरा करते थे। उस बार राजबहादुर अपनी दादी के साथ जा रहा था। साथ में गाँव की और भी बहुत सी औरतें थीं। वे सब गीत गाती हुई जा रही थीं और इसी कारण सारा वन गीतों से गूँज उठा था। उन गीतों का उद्‌देश्य गंगा माता को प्रसन्न करना था। वे प्रसन्न होती हों या नहीं, परंतु गानेवालों का रास्ता जरूर आराम से कट जाता था।

औरतें गीत गाकर रास्ता काट रही थीं तो राजबहादुर खेल-कूदकर। बालक जो ठहरा! वह कभी आगे बढ़ जाता तो कभी पीछे रह जाता था। कभी-कभी वह जंगली फलों की तलाश में भी इधर-उधर भटक जाता था। एक बार वह ऐसा भटका कि रास्ते से दूर जा पड़ा। जब उसे ध्यान आया तो उसने देखा, अँधेरा बढ़ता जा रहा है और वह अकेला रह गया है। वह घबराया और तेजी से आगे बढ़ने लगा। बढ़ता चला गया, परंतु मेला जाने वाला कोई भी प्राणी उसे नहीं मिला।

तो क्या वह रास्ता भूल गया है? सामने नाला दिखाई दे रहा है—बैरंगनिया नाला।

राजबहादुर को कंपकंपी आने लगी—यहाँ चोर रहते हैं। चोर··· वे उसे नहीं छोड़ेंगे।

उसे कुछ सूझ नहीं पड़ा। अँधेरा तेजी से घिरता आ रहा था और वह पीछे नहीं लौट सकता था। इसलिए इतना सोचने के बावजूद उसके पैर आगे ही बढ़ रहे थे। सहसा एक कड़कता हुआ स्वर उठा, ‘‘कौन है?’’

राजबहादुर को काटो तो खून नहीं। मुँह से एक शब्द नहीं निकला। वही

स्वर फिर उठा, ''ठहरो!'' और साथ ही मशाल लिये तीन-चार व्यक्ति उसके पास आकर खड़े हो गए। उस वक्त चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। अँधेरे को चीरती मशाल बड़ी भयंकर लग रही थी। राजबहादुर ने एक बार उन सबको देखा। उसे लगा, वह भूतों से घिरा हुआ है। उसने दृष्टि नीचे कर ली। यद्यपि उसका दिल जोरों से धड़क रहा था, फिर भी उसकी आँखों में आँसू नहीं थे।

आनेवालों में से एक डाकू ने, जो सरदार जान पड़ता था, कड़ककर पूछा, ''तुम्हारे पास क्या है?''

राजबहादुर ने कोई जवाब नहीं दिया। डाकू तेज हुआ, ''नहीं बोलता, क्या गूँगा है?''

राजबहादुर अब भी पत्थर की मूरत की तरह स्थिर खड़ा रहा। वह कुछ नहीं समझ पा रहा था। वह पूरी तरह डर भी नहीं रहा था। वह तो आकाश की तरह शून्य में भटक गया था। डाकू ने अब अपने साथी की ओर संकेत किया। उसने आगे बढ़कर राजबहादुर की तलाशी ली। उसके पास पाँच रुपए थे। उन्हें लेकर सरदार ने कहा, ''अच्छा, चादर उतारो।''

इस बार राजबहादुर हिला। उसने चादर उतार दी। सरदार फिर बोला, ''कोट भी उतारो।''

राजबहादुर चुपचाप कोट उतारने लगा। पहले उसने एक-एक करके सब बटन खोले। फिर बाँहें निकालने लगा कि सहसा सरदार फिर बोल उठा, ''ठहरो!''

दोनो हाथों से कोट को पकड़े हुए राजबहादुर ठहर गया। उसने दृष्टि उठाकर सरदार की ओर देखा। वह काँपा। सरदार की आँखें चमक रही थीं। उसने कहा, ''पहने रहो, तुम्हें जाड़ा लगेगा।''

और फिर मुड़कर अपने साथी से बोला, ''जाओ, इसे रास्ता बता दो!''

□

अनोखा दंड

वह क्षण भर ठिठका, फिर बोला, "आज मैं आपको एक ऐसी घटना सुनाने जा रहा हूँ, जो इतनी अद्‌भुत और इतनी पवित्र है कि शायद आप उसपर विश्वास नहीं करेंगे। इस अद्‌भुत घटना का संबंध बंगाल के एक सपूत हाजी मोहम्मद मोहसिन से है। वह तलवार के धनी थे। उनके शरीर में बहुत बल था। विद्वत्ता में उनसे टक्कर लेनेवाले बहुत कम लोग थे और उनके अक्षर इतने सुंदर थे कि उनकी लिखी हुई 'कुरान' की प्रत्येक प्रति १००० रुपए में बिकी थीं। वह धनी थे, दानी थे, दयालु थे। सच तो यह है कि वह क्या नहीं थे।

एक रात की बात है। जब वह सो रहे थे तब एक चोर उनके कमरे में घुस आया। वह अभागा अभी कुछ देख भी न पाया था कि हाजी साहब जाग उठे। दूसरे ही क्षण एक निडर सिपाही की भाँति उन्होंने चोर को पकड़ लिया, लेकिन जैसे ही प्रकाश में उन्होंने उस अभागे का मुख देखा तो चकित रह गए। वह उनका पड़ोसी था। कुछ बुरी आदतों के कारण वह अपना सबकुछ लुटा चुका था और अब आवारा जीवन बिता रहा था। उसे देखकर हाजी साहब क्रोध से तमतमा उठे, 'तुम!···तुम मेरे घर डाका डालने आए हो?'

"पड़ोसी ने सिर झुका लिया।

"वह कहते रहे, 'तुम्हें शर्म नहीं आती? तुम इतने गिर गए हो! तुम्हें अपनी जाति, अपने कुल और अपनी इज्जत का कोई खयाल नहीं है?'

"उनका क्रोध बढ़ रहा था और अपराधी के प्राण काँप रहे थे। वह रोने लगा और हाजी साहब के पैर पकड़कर बोला, 'मुझे माफ कर दो! मैं फिर ऐसा नहीं करूँगा?'

'माफी!' उन्होंने कड़ककर कहा, 'तुम्हें माफी माँगते शर्म नहीं आती? तुम माफी के योग्य नहीं हो। तुम्हें दंड मिलेगा।'

‘‘यह कहकर वह उठे। उन्होंने बक्से में से रुपए निकाले और उस चोर के काँपते हुए हाथों में देकर उसे दरवाजे तक छोड़ने आए। बोले, ‘आज से मैं तुम्हारा अभिभावक हूँ। तुम्हें वही करना होगा, जो मैं कहूँगा। समझे! जाओ, अब जाकर शांति से सो जाओ!’

‘‘और उस चोर को कुछ सोचने, कुछ कहने का अवसर मिले, इससे पहले वह किवाड़ बंद करके अंदर लौट चुके थे।’’

यहाँ आकर वह ठिठका, बोला, ‘‘मुझे आशा है, आपको उस चोर से ईर्ष्या हो रही है। होनी ही चाहिए, लेकिन क्या आप उस चोर को जानते हैं?’’

वह फिर रुका।

‘‘आप नहीं जानते। मैं जानता हूँ। वह चोर मैं ही हूँ। मैं ही उस रात हाजी साहब के घर डाका डालने गया था।’’

यह सुनकर सभा स्तंभित-चकित अपने प्यारे वक्ता को देखती ही रह गई।

□

अहंकार का नाश

विश्व के कोने-कोने से शांति के उपासक शांतिदूत की कुटिया में आकर इकट्ठे हुए। वे संसार के युद्ध और संघर्ष से ऊब गए थे और शांति की राह खोजना चाहते थे। उनके साथ दर्शक भी आए, समाचार-पत्रों के संवाददाता भी पहुँचे। वे शांति का संदेश घर-घर पहुँचा देना चाहते थे। उन्हें सामग्री की आवश्यकता थी, लेकिन शांति के लिए तो संघर्ष करना पड़ता है। बेचारे एक संपादक सुबह से शाम तक उपासकों की उपासना करते, परंतु उत्तर यही मिलता, 'समय नहीं है।'

'शांति के उपासक और समय का अभाव!' उन संपादक ने उस तर्क को मानने से इनकार कर दिया। संघर्ष और भी तीव्र हुआ। संपादक को कुछ सफलता भी मिली, परंतु इसी बीच उन्हें एक फोटो की आवश्यकता हुई, जिसमें सभी उपासक एक स्थान पर उपस्थित थे। वे अधिकारी के पास पहुँचे और उनसे उस फोटो की एक प्रति माँगी। अधिकारी ने उत्तर दिया, ''मेरे पास प्रतिनिधियों की प्रतियाँ हैं, उनके अतिरिक्त नहीं।''

संपादक ने प्रार्थना की, पर व्यर्थ। वह बड़े अधिकारी के पास पहुँचे। उनका उत्तर भी संतोषजनक नहीं था। फिर भी उन्होंने छोटे अधिकारी को लिखा—''कोई बची हुई प्रति हो तो इन संपादक को दे दो।''

यह पत्र पाकर छोटा अधिकारी और भी तेज हो उठा। उसने कहा, ''मेरे पास कोई प्रति नहीं है।''

संपादक बोले, ''देखिए तो?''

''मैं देख चुका'', छोटे अधिकारी ने धैर्य खोकर कहा, ''मेरे पास गिनी हुई प्रतियाँ आई थीं।''

''पर कोई ऐसे भाई तो होंगे, जो फोटो नहीं लेना चाहेंगे।'' संपादक ने

फिर तर्क किया।

"ऐसा कोई नहीं है।"

"तो आप हमारे लिए एक प्रति मँगवा दीजिए।"

"यह हम नहीं कर सकते। आप ले आइए। फोटोग्राफर शहर में रहता है।"

"पर उसका पता?"

निश्चय ही छोटा अधिकारी तब तक बिलकुल धैर्य खो चुका था। उसने झुँझलाकर कहा, "आप मुझे परेशान कर रहे हैं। मेरे पास एकदम समय नहीं है। पता फोटो के फ्रेम पर लिखा होगा, देख लीजिए।"

संपादक इस उत्तर के लिए तैयार नहीं थे। कुछ तेज होकर बोले, "आप कैसी बातें करते हैं? क्या हमारे पास ही फालतू समय है?"

अधिकारी ने और भी तेज होकर कहा, "मैं आपसे अधिक बातें नहीं कर सकता। मुझे शांति-सम्मेलन का काम करना है।"

"तो क्या आप समझते हैं कि फोटो मुझे अपने घर में टाँगना है? मैं भी शांति-सम्मेलन के लिए काम करने आया हूँ। मैं अपने पत्र का 'विश्वशांति अंक' निकाल रहा हूँ।"

लेकिन यह तर्क उस थके हुए अधिकारी को शांत नहीं कर सका। झगड़ा बढ़ता चला गया और कुछ ही क्षणों में उस झगड़े से पैदा होनेवाले कड़वे धुएँ ने वातावरण को ढक लिया। लेकिन बात इससे आगे बढ़े कि मित्र लोग संपादक बंधु को बाहर ले आए। अधिकारी को भी काम करना था। झुँझलाकर वह टाइप मशीन पर जा बैठा।

जैसे बात बीत गई। जो लोग वहाँ इकट्ठे हो गए थे, वे मुस्कराते हुए चले गए। वे सोच रहे होंगे कि शांति के लिए घोर संघर्ष करना होगा। संपादक बंधु बहुत देर तक बाहर एक प्रतिनिधि से शांति की चर्चा करते रहे। कर चुके तो वह फिर अंदर की ओर मुड़े। मित्रों को डर हुआ कि कहीं यह झगड़ा फिर शुरू न हो जाए, लेकिन हुआ यह कि अधिकारी के पास जाकर संपादक बंधु ने कहा, "अच्छा, मैं अब जा रहा हूँ। लाओ, मुझे दो अपना हाथ!"

और उन्होंने अपना हाथ आगे बढ़ा दिया। अधिकारी की समझ में कुछ नहीं आया। चकित होकर उसने कहा, "नहीं-नहीं..."

"नहीं कैसे?" संपादक ने स्नेह भरे स्वर में कहा, "हमें मित्र की तरह विदा होना चाहिए। मुझे खेद है, मैं तेज हो गया था।"

"नहीं-नहीं, मैं इस योग्य नहीं हूँ। मैं थका हुआ हूँ।"

पर संपादक ने उसकी बात नहीं सुनी। आगे बढ़कर उसका हाथ अपने हाथ में ले लिया। उसे स्नेह से हिलाया और कहा, "अब ठीक है। हम मित्र हैं, प्रिय मित्र!"

अधिकारी मुस्कराने लगा। उसकी आँखों में कृतज्ञ स्नेह उमड़ आया।

☐

घृणा पर विजय

बेल्जियम की वीरता कहावत बन गई है। पहले विश्वयुद्ध में उसने रक्त की आखिरी बूँद बहाकर शत्रु को अपने देश में आने दिया था। दूसरे विश्वयुद्ध में भी वह उसी वीरता से लड़ा, परंतु रक्त की आखिरी बूँद गिरने से पहले ही बर्बर जर्मन सैनिकों ने उसे आत्म-समर्पण के लिए विवश कर दिया। उसके बाद जर्मन सैनिकों ने उस घायल देश पर जो अत्याचार किए, उनकी कल्पना करके दानवता भी सिहर उठती है।

देश के नेताओं ने यह सबकुछ देखा और वे तड़पकर रह गए। प्रसिद्ध जननेत्री श्रीमती माग्दा यूरस युद्ध से घृणा करती थीं। वह शांति की उपासिका थीं। पर जर्मनों के इस अत्याचार ने उन्हें बुरी तरह दुःखी कर दिया था। वह अपने देशवासियों का पलायन देखकर घृणा से भर उठीं। उस बुरी हालत में वह पीड़ितों के आँसू पोंछती हुई इधर-उधर घूमा करती थीं। एक दिन उन्होंने एक घायल सिपाही को देखा। वह जर्मन था, उनके देश का शत्रु। वह घृणा से मुँह मोड़कर आगे बढ़ गईं; लेकिन घायल की करुण पुकार निरंतर कानों में आ रही थी। उस पुकार में वही पीड़ा थी, वही दर्द था, जो बेल्जियम के नागरिकों की पुकार में था। वह जैसे काँपीं, पर दूसरे ही क्षण उन्होंने गरदन को जोर से झटका दिया, ''नहीं-नहीं, इसे मरना ही चाहिए, मरना ही चाहिए। मैं इसके लिए कुछ नहीं कर सकती।''

और वह आगे बढ़ गईं, पर मन पीछे लौट रहा था—'उसका स्वर वैसा ही है, वह उसी तरह मर रहा है! क्या उसके मरने से मेरे देश का भला होगा?⋯क्या अत्याचार रुक सकेगा?'

श्रीमती यूरस ने फिर भी जोर से कहा, 'नहीं-नहीं, मैं कभी नहीं लौटूँगी।'

'न लौटो! वह एक मनुष्य है। एक मनुष्य के मरने से संसार का क्या बिगड़ता है? हाँ, कोई अंतर नहीं पड़ता! विचार वे ही रहेंगे। अत्याचार उसी तरह

चलता रहेगा···।'

श्रीमती यूरस सहसा ठिठकीं, 'मनुष्य···संसार···विचार···!'

वह फुसफुसाईं, ''विचार वैसे ही बने रहेंगे, वैसे ही।''

''हाँ, विचार वैसे ही रहेंगे। नाजियों का जुल्म उसके मरने से नहीं मिटेगा।''

''तो!''

'कुछ नहीं! तुम जाओ। उसके मरने से तुम्हें सुख होगा···।'

न जाने क्या हुआ। श्रीमती यूरस चिल्ला उठीं, 'मैं अपना सुख नहीं चाहती हूँ। मैं शांति चाहती हूँ। मैं इस अत्याचार का, इस शोषण का, अंत चाहती हूँ!'

और तभी घायल की करुण पुकार फिर उनके कानों में पड़ी। अचरज से उन्होंने देखा कि तब वह वहीं घायल सैनिकों के पास खड़ी हुईं अपने ही मन से तर्क कर रही थीं। बस, फिर तो वहीं उस घायल के पास बैठ गईं और देखने लगीं कि उसे कैसे सहायता पहुँचाई जा सकती है।

जर्मन ने उन्हें देखा तो पीड़ा में भी विस्मित होकर बोल उठा, ''आप!''

स्नेहपूर्ण स्वर में श्रीमती यूरस ने कहा, ''बोलो नहीं। तुम्हें अभी अस्पताल पहुँचाने का प्रबंध करती हूँ। तब तक जरा मुझे पट्टी बाँध लेने दो। हाँ, तनिक ऐसे···बस, बस, तुम ठीक हो जाओगे!''

□

डॉक्टर और चोर

डॉक्टर साहब के घर चोरी हुई है। सभी कीमती सामान चला गया। यह समाचार क्षण भर में चारों ओर फैल गया। बात हवा के परों पर उड़ती है और फिर सनसनी पैदा करनेवाली बातें! वे तो ऐसी दौड़ती हैं जैसे ट्रेनों में तूफान मेल या दक्कन क्विन दौड़ती है। देखते-ही-देखते नातेदार आए, मित्र आए, पड़ोसी आए। पूछा, ''क्या गया है? कैसे गया है?''

फिर डॉक्टर साहब से सहानुभूति प्रकट की और सोचने लगे—'कौन हो सकता है?'

किसी ने किसी पर शक किया, किसी ने किसी पर। किसी ने पुलिस को दोष दिया तो किसी ने समाज को। कुछ ऐसे भी थे, जिन्होंने चोरी के संबंध में अनेक किस्से सुनाए, जो कि उन्होंने ऐसे ही अवसरों पर सुनाने के याद कर लिये थे।

एक बंधु बोले, ''आपका शक किस पर है, डॉक्टर साहब?''

डॉक्टर साहब ने कहा, ''कोई ऐसा व्यक्ति याद नहीं आता, जिस पर शक किया जा सके।''

''पुलिस क्या कहती है?''

''अजी, पुलिस कुछ कह सके तो चोरी ही क्यों हो?'' एक भाई ने बीच में साँस खींचकर कहा और फिर एकदम चुप हो गए।

कुछ लोगों ने इस बात का समर्थन किया। कुछ मुस्कराए, पर मतलब की बात कुछ नहीं हुई। हाँ, जाते-जाते एक व्यक्ति ने गंभीर होकर कहा, ''कुछ भी हो, चोर को डॉक्टर के घर चोरी नहीं करनी चाहिए थी।''

दूसरे ने पूछा, ''क्यों?''

''क्यों क्या! डॉक्टर जनता का सेवक है। उसे तंग नहीं करना चाहिए।''

"तुम्हारी बात ठीक है, पर कौन जाने चोरी करनेवाला कोई मरीज हो?"

"यह और भी बुरी बात है।"

डॉक्टर ने दृढ़तापूर्वक कहा, "नहीं-नहीं, यह मरीज का काम नहीं है।"

और वे अपने काम में लग गए। सदा की भाँति उन्होंने अपने सब काम किए और रात को ठीक समय पर सो गए। लेकिन सवेरे जब आँख खुली तो देखा—बरामदे में कुछ गड़बड़ है, कुछ पड़ा है।

'क्या आज फिर चोरी हुई?' उन्होंने घबराकर सोचा और बाहर निकल आए।

'यह क्या? क्या वह सपना तो नहीं देख रहे हैं? यह तो वह सामान है, जो पिछली रात को चोरी गया था।' उन्होंने एकदम चिल्लाकर कहा, "अरे देखो, यह क्या है? यह यहाँ कौन रख गया?

वहाँ फिर एक भीड़ इकट्ठी हो गई। सबने अचरज से उस सामान को देखा। पूछने लगे, "यह सामान यहाँ कैसे आया?"

डॉक्टर ने उसी स्वर में उत्तर दिया, "यही तो समझ में नहीं आता? जैसे ही सोकर उठा तो देखा, यह सामान यहाँ रखा हुआ है।"

"किसी को लाते देखा?"

"किसी को नहीं।"

"बड़े अचरज की बात है!"

"अचरज तो है ही।"

"चोर ने चोरी क्यों की और की तो सामान वापस क्यों रख गया?"

डॉक्टर कुछ जवाब दे कि उनकी दृष्टि सूटकेस में बँधी एक परची पर गई। उसपर लिखा था—"हमें पता नहीं था कि यह डॉक्टर का घर है।"

□

इनसान

चलती हुई लॉरी एक झटके के साथ रुक गई। अपनी टाँगों के लिहाज से बहुत ऊँची साइकिल चलानेवाला एक बालक उसके नीचे आ गया था। बलराज यह सब देख रहा था। लॉरी के रुकते-रुकते वह फुरती से नीचे कूदा और बड़ी सावधानी से बालक को बाहर खींच लिया। उसके जख्मों से खून बह रहा था और वह बेहोश-सा था, पर तो भी कोई संगीन चोट उसे नहीं दिखाई दी। उसने एकदम उसे अस्पताल ले चलने की बात कही, पर तभी वहाँ भीड़ इकट्ठी हो गई। उसमें एक बूढ़ा आदमी भी था, जो कुछ इस तरह से उस बालक को देख रहा था कि बलराज से रहा नहीं गया, पूछा, ''तुम्हारा बालक है?''

बूढ़े आदमी ने शांत स्वर में कहा, ''मेरा बेटा है।''

अचरज, वह न तो रोया, न ही उसने किसी को गाली दी। बलराज ने उससे कहा, ''इसे अभी अस्पताल ले चलते हैं। बच जाएगा। आओ, तुम भी अंदर बैठ जाओ। ड्राइवर का इसमें कोई कसूर नहीं है।''

बूढ़ा उसी तरह बोला, ''जैसा आप कहें।''

पर जो भीड़ इकट्ठी हो गई थी, वह बालक को तो भूल गई और ड्राइवर के पीछे पड़ गई, क्योंकि ड्राइवर और बालक दोनों अलग-अलग जातियों के थे। कुछ लोग आगे बढ़कर ड्राइवर को पीटने लगे। बलराज को उस समय ऐसा लगा कि अगर कुछ किया नहीं गया तो हालत बिगड़ जाएगी। बस, वह फुरती से लॉरी के हुड पर जा खड़ा हुआ और जोर-जोर से लेक्चर की तरह बोलकर लोगों को समझाने लगा। भीड़ पर इस बात का मनचाहा प्रभाव पड़ा और वह मुसाफिरों को समझा-बुझाकर लॉरी को अस्पताल ले जाने में सफल हो गया।

बूढ़ा चुप ही रहा। डॉक्टर के सामने भी नहीं बोला। उसकी दृष्टि बस

लहूलुहान बेटे पर जमी हुई थी, जैसे वह मन-ही-मन भगवान् से उसे अच्छा करने की प्रार्थना कर रहा हो; लेकिन कानून की बात तो कानून की बात है, जब तक पुलिस नहीं आ जाती तब तक डॉक्टर घायल को छू नहीं सकता।

एक अद्‌भुत दृश्य था। एक घायल लड़का, जिसके घावों से बराबर खून बह रहा है। एक बूढ़ा बाप, जो अपने घायल बेटे के बदन को सहलाता हुआ चुपचाप बैठा है, और वक्त बीत रहा है···और बलराज तिलमिला रहा है। सोच रहा है, इनसान की कीमत! एक इनसान की कीमत क्या कुछ भी नहीं है?

आखिर आधा घंटा बाद हवलदार साहब पधारे। फीते से घावों की नपाई शुरू हुई। टाँगें, पैर, कंधे, छाती, सिर और पीठ सभी स्थानों के घावों की पैमाइश हुई। फिर बालक का हुलिया, बाप का नाम, बालक का बयान और ड्राइवर का बयान, ये सब लिखे गए।

तब कहीं पट्टी शुरू हुई और उसे अस्पताल में दाखिल कर लिया गया। इसके बाद हवलदार ने बूढ़े से पूछा, "बाबा, लॉरीवाले का चालान करवाना चाहते हो?"

बूढ़े ने जवाब दिया, "उसका कोई कसूर नहीं है। मेरा बेटा बच गया। मुझे कुछ नहीं चाहिए।"

किसी को इस उत्तर की आशा नहीं थी। सबके दिल श्रद्धा से भर उठे। हवलदार ने लॉरीवाले से कहा, "ड्राइवर!"

"हुजूर!"

"बाबा ने तुम्हें माफ कर दिया है। तुम लड़के के इलाज के लिए इसे दस रुपए दो!"

सब सुननेवालों ने इस बात का समर्थन किया और ड्राइवर ने फुरती से दस का एक नोट निकालकर बाबा की ओर बढ़ाया; लेकिन बाबा ने बड़ी सादगी से, जैसे कुछ हुआ ही नहीं था, उसका हाथ वापस फेर दिया और अपने बच्चे के सिरहाने जा बैठा।

□

चोरी का अर्थ

एक लंबे रास्ते पर सड़क के किनारे उसकी दुकान थी। राहगीर वहीं दरख्तों के नीचे बैठकर थकान उतारते और उससे कुछ चना-चबेना लेकर भूख मिटाते। दुकानदार उन्हें ठंडा पानी पिलाता और सुख-दुःख का हाल पूछता। इस प्रकार तरोताजा होकर राहगीर अपने रास्ते पर आगे बढ़ जाते।

एक दिन एक मुसाफिर ने एक आने का सामान लेकर दुकानदार को एक रुपया दिया। उसने सदा की भाँति अंदर की अलमारी खोली और रेजगारी देने के लिए अपनी चिर-परिचित पुरानी संदूकची उतारी। पर जैसे ही उसने ढक्कन खोला, उसका हाथ जहाँ था वहीं रुक गया। यह देखकर पास बैठे हुए आदमी ने पूछा, ''क्यों, क्या बात है?''

''कुछ नहीं'', दुकानदार ने ढक्कन बंद करते हुए कहा, ''कोई गरीब आदमी अपनी ईमानदारी मेरे पास गिरवी रखकर पैसे ले गया है।''

□

गुण-ग्राहक

उनका नगर संकट में था। शत्रु की सेना चारों ओर से उमड़ पड़ी थी। लगातार बम बरस रहे थे। अनेक प्रयत्नों के बावजूद वे उसे एक कदम भी पीछे हटाने में असमर्थ थे।

एक नागरिक ने कहा, ''ऑस्ट्रिया की सेना बहुत शक्तिशाली है।''

दूसरा नागरिक, जिसका नाम टीटो स्पेरी था, बोल उठा, ''ब्रेसिया नगर के रहनेवालों की नसों में भी पानी नहीं बहता। हम यूँ ही हार माननेवाले नहीं हैं!''

और उसका कहना सच था। एक बहुत बड़ी सेना के सामने मुट्‌ठी-भर नागरिकों का डटे रहना साधारण बात नहीं थी। बहुत संभव था कि वे जीत जाते; परंतु दुश्मन की सेना का सेनापति बहुत चतुर था। वह आयरलैंड का रहनेवाला था और उसका नाम जनरल लवाल था। उसकी चातुरी के आगे ब्रेसिया के नागरिकों की एक न चली। अंत में मंत्रि-परिषद् की बैठक बुलाई गई। एक ने सूचना दी, ''अन्न समाप्त हुआ चाहता है।''

दूसरा बोला, ''पानी की हालत और भी खराब है।''

''कोई चिंता नहीं।'' स्पेरी बोल उठा, ''हम प्राण दे देंगे, पर नगर नहीं छोड़ेंगे।''

जो बूढ़े थे, वे मुस्कराए। एक ने गंभीर स्वर में कहा, ''तुम्हारा साहस धन्य है, स्पेरी! पर तुमने अभी परिस्थिति को समझा नहीं है। तुम आवेश में हो और आवेश मनुष्य को अंधा कर देता है।''

स्पेरी तिलमिलाया, पर उसने अपने को रोका। बोला, ''तो आप क्या करने को कहते हैं?''

उत्तर मिला, ''सबसे पहले हमें परिस्थिति पर विचार करना है और उसके लिए हमें विराम-संधि के लिए प्रार्थना करनी होगी।''

"संधि!" स्पेरी फुसफुसाया।

"केवल विराम-संधि;" वृद्ध ने उसे ठीक किया, "हम जय चाहते हैं, स्पेरी! विनाश नहीं।"

स्पेरी ने सिर झुका लिया। कुछ क्षण बाद सफेद झंडा ऊँचा उठा, शस्त्र नीचे रख दिए गए और बातचीत करने के लिए नागरिकों का एक शिष्टमंडल शत्रु-सेनापति लवाल के पास चला। उस शिष्टमंडल में स्पेरी भी था। उसका हृदय पराजय की पीड़ा से भरा हुआ था; परंतु उसकी आँखों में आत्म-सम्मान की रेखाएँ रह-रहकर उभर उठती थीं। इसी कारण बातचीत बहुत आगे नहीं बढ़ सकी। सेनापति किसी बात पर क्रोध से भर उठे। उन्होंने तेजी से कहा, "कुछ भी हो, हम नगर में प्रवेश करेंगे।"

उसी तेजी से स्पेरी ने गरदन उठाकर पूछा, "कैसे?"

"कैसे भी?" सेनापति ने उत्तर दिया, "शक्ति के द्वारा अथवा मित्रता के द्वारा?"

यह सुनना था कि स्पेरी समय और परिस्थिति को भूलकर चिल्ला उठा, "संभव है, आप शक्ति द्वारा नगर में प्रवेश कर सकें, परंतु यह निश्चित है कि मित्रता द्वारा आप कभी ऐसा नहीं कर सकते।"

परिणाम यह हुआ कि संधि-वार्त्ता भंग हो गई और युद्ध के नगाड़ों से एक बार फिर वातावरण गूँज उठा। इस बार नागरिक सेना मौत को गवाह बनाकर लड़ी। उसने ऑस्ट्रिया की सेना के छक्के छुड़ा दिए और उसके सेनापति को बुरी तरह घायल कर दिया। घाव इतने गहरे और गंभीर थे कि तरह-तरह की चिकित्सा करने पर भी उनके जीवन का दीप मंद होता चला गया। अंत में उन्होंने वकील को बुला भेजा। उसका अर्थ स्पष्ट था—उन्हें जीवन की आशा नहीं थी।

और हुआ भी यही। सेनापति चल बसे। वह वीर थे, मृत्यु का स्वागत उन्होंने हँसकर किया। अंतिम क्रिया के बाद लोागें ने उनकी वसीयत निकाली। पढ़ी तो वे सब अचरज से पागल हो उठे। सेनापति ने लिखा था—'मैं अपनी सब संपत्ति ब्रेसिया के नागरिकों को भेंट करता हूँ। वे साहस और आत्मसम्मान के पुतले हैं।'

□

सेवा-भाव

एक दिन मेरठ में किसी ने सुना—बंबई से गिलटी निकला आदमी आया है। बस, दूसरे दिन से शहर में शैतान नाचने लगा। ऐसा लगता था मानो ढाऊसाहब ने (तब प्लेग का यही नाम चल पड़ा था) मनुष्य का नाम मिटाने का प्रण कर लिया है। लोग घर छोड़-छोड़कर भागने लगे। माँ को बेटे की, पत्नी को पति की और पुत्र को पिता की चिंता नहीं रही। नगर में भूतों का डेरा लग गया। कभी-कभी तो अंत्येष्टि करनेवाले भी नहीं मिलते थे।

इन्हीं दिनों बैंकर स्ट्रीट के मुंशीजी के घर पर ढाऊसाहब का आक्रमण हुआ। एक दिन घर के नौकर ने आकर कहा कि उसे बुखार चढ़ आया है। यह ढाऊसाहब की चेतावनी थी। सुनकर मुंशीजी ने माथा ठोक लिया। एकदम घर के अंदर पहुँचे। बेटी को पुकारा, "बेटी, जल्दी करो। तुम्हें अभी बागवाले घर में जाना होगा।"

बेटी का माथा ठनका, पूछा, "क्यों पिताजी?"

"रामू को गिलटी निकली है।"

"क्या?" बेटी की आँखें खुली-की-खुली रह गईं।

"जल्दी करो, बेटी! सब बच्चों को लेकर पीछे के दरवाजे से निकल जाओ। जल्दी करो!"

वे रामू के पास लौटे। उसके लिए दवा का प्रबंध करना था। वह बाहर आँगन में पेड़ के नीचे लेटा था और उसकी कराहट बढ़ती जा रही थी। उन्होंने क्षण भर उसे देखा और फिर बाहर की ओर लपके। हकीम उनको जानता था। दवा लाने में बहुत देर नहीं लगी। लौटे तो बेटी राह देख रही थी। एकदम बोली, "पिताजी, चलो!"

मुंशीजी ने मानो सुना नहीं। चिल्लाकर कहा, "तुम अभी तक यहीं हो, गई नहीं?"

चकित होकर बेटी ने कहा, ''कैसे जाती, आप तो थे नहीं।''

''मैं! मैं नहीं जाऊँगा।''

''क्या?'' बेटी काँप उठी, ''आप नहीं जाएँगे!''

''हाँ, बेटी'', शांत स्वर में मुंशीजी ने कहा, ''जन्म भर रामू ने मेरी सेवा की है। अब जब उसके सिर पर मौत मँडरा रही है, मैं उसे छोड़कर कैसे जा सकता हूँ?''

बेटी ने पिता की ओर देखा, फिर बोली, ''ठीक है पिताजी, आप यहीं रहिए, बच्चों को छोड़कर मैं अभी आती हूँ।''

□

पश्चात्ताप

भूषण जब प्रिंसिपल के कमरे में आया तब उसके हाथ में तेजाब की एक बोतल थी। आगे बढ़कर उसने उस बोतल को मेज पर रख दिया। प्रिंसिपल ने दृष्टि उठाकर पूछा, "क्या है?"

"तेजाब की बोतल।"

"तेजाब की बोतल! क्यों, मैंने तुमसे बोतल लाने को कब कहा था?"

"जी नहीं, आपने नहीं कहा था।" भूषण ने कुछ सकपकाते हुए कहा।

"तो फिर क्यों लाए हो?" प्रिंसिपल ने कौतूहल से पूछा।

"जी," भूषण ने साहस बटोरकर शीघ्रता से जवाब दिया, "जी, मैं इसे चुराकर ले गया था।"

जैसे वज्रपात हुआ। प्रिंसिपल ने हठात् भूषण को देखा, बोतल को देखा, फिर भूषण को देखा। विश्वास नहीं हुआ। पूछा, "क्या कहते हो?"

भूषण शांत हो चुका था। बोला, "जी, मुझे तेजाब की जरूरत थी, इसलिए एक महीना पहले मैं इसे साइंस-रूम से चुराकर ले गया था।"

प्रिंसिपल साहब का कौतूहल बढ़ता ही जा रहा था। पूछा, "एक महीना पहले?"

"जी हाँ।"

"लेकिन अब तक इस्तेमाल नहीं किया?"

"जी, कर नहीं सका।"

"क्यों?"

"जी, जब भी करना चाहता था तो दिल काँपने लगता था।"

"फिर क्या होता था?"

"जी, मैं उसे अलमारी में बंद करके रख देता था।"

"फिर?"

"फिर भी मन को शांति नहीं मिलती थी। लगता था, जैसे मैंने कोई बुरा काम किया है।"

प्रिंसिपल ने यंत्रवत् कहा, "और शायद इस तरह एक महीना बीत गया?"

"जी हाँ, इसी तरह एक महीना बीत गया, लेकिन अब मुझसे रहा नहीं गया। मैं इसे यहाँ ले आया हूँ।"

"मेरे पास क्यों लाए हो? वहीं क्यों नहीं रख दिया, जहाँ से ले गए थे?"

"जी, यह तो एक बार फिर चोरी करना होता।"

प्रिंसिपल का मन जैसे खिल उठा। प्रसन्नता से गद्‌गद होकर वह बोले, "बहुत अच्छा! तुमने बहुत अच्छा काम किया है। मैं तुमसे बहुत खुश हूँ।"

यह कहकर वह फिर अपने काम में लग गए, पर भूषण वहीं खड़ा रहा। उन्होंने देखा तो पूछा, "अब क्या बात है?"

भूषण ने कहा, "मुझे सजा तो मिली नहीं।"

प्रिंसिपल मुस्कराए। बोले, "एक महीने तक तुम पछतावे की आग में जलते रहे हो, वही क्या कम सजा है, जो मैं तुम्हें और दूँ?"

यह कहकर वह फिर पहले की तरह अपने काम में लग गए।

□

सौ रुपए का नोट

एक ठेकेदार काम लेने के लिए एक अफसर के पास पहुँचा। बहुत देर तक इधर-उधर की बातें करने के बाद ठेकेदार ने मतलब की बात शुरू की। साथ ही उसने चुपचाप सौ रुपए का नोट जेब से निकाला और मेज पर रख दिया। अफसर ने नोट को देखा, पर उसने उस बारे में एक शब्द भी नहीं कहा, दूसरी बातें करता रहा। कुछ देर बाद बोला, ''सिगरेट पियोगे?''

''अवश्य,'' ठेकेदार ने जवाब दिया, ''मेरे पास है, लीजिए।''

यह कहकर उसने सिगरेट निकाली और फिर दियासलाई जलाकर उठा कि अफसर की सिगरेट जला दे। अफसर ने इसी बीच में नोट को उठाया, उसकी बत्ती बनाई और दियासलाई से जलाकर अपनी सिगरेट सुलगा ली। मानो वह कोई रद्दी कागज था। उसी अदा से जिस तरह दियासलाई बुझाते हैं, उसने नोट को बुझाकर नीचे फेंक दिया।

क्षण भर में सौ रुपए का नोट बेकार हो गया। दोनों ने उसे देखा, पर जैसे कुछ हुआ ही नहीं हो, पहले की तरह बातें करते रहे।

□

वीर माता

नमक सत्याग्रह के दिनों की बात है। देश में एक तूफान आया हुआ था। लाठी और गोली खाना साधारण बात हो गई थी। स्त्री और पुरुष, बालक और बूढ़े, सभी निर्भयता की मूर्ति बने हुए थे। एक बार ऐसा हुआ कि एक जुलूस के साथ एक छोटी आयु का स्वयंसेवक गिरफ्तार कर लिया गया। वह एक साधारण किसान का बेटा था। औरों की तरह उसे भी छह महीने की सजा हुई थी। उन दिनों जेल का जीवन आज की तरह आरामदायक नहीं था। राजनीतिक कैदियों के साथ और भी सख्ती की जाती थी। उस लड़के के साथ यही हुआ। उसे कई बार निर्दयता से पीटा गया। वह उस मार को न सह सका। सरकार इस तरह के बंदियों की टोह में रहती थी। किसी तरह बहला-फुसलाकर उसने लड़के से माफीनामा लिखवा लिया और उसे छोड़ दिया।

लड़का घर पहुँचा। माँ उसे देखकर चकित रह गई। पूछा, "बेटा, तू कैसे आ गया? तुझे तो छह मास की सजा हुई थी!"

लड़का—"हुई तो थी!"

माँ—"फिर?"

लड़का—"मैं छूट आया।"

माँ—"पर कैसे, बेटा? क्या सरकार ने तुझे छोटा जानकर छोड़ दिया?"

लड़का इन सवालों से घबरा गया और रोने लगा। बोला, "माँ, वे मुझे बहुत मारते थे। देख, कैसे नीले निशान पड़ गए हैं!"

और कहते-कहते उसने अपना कुरता उतार दिया। सचमुच उसकी कमर नीली हो गई थी। हाथ-पैर भी जगह-जगह से सूज गए थे। पर माँ ने उस ओर बिलकुल ध्यान नहीं दिया। वह क्रोध में भरकर बोली, "सच बता, क्या तूने माफी माँगी है?"

लड़का—"माँ···,"

माँ—"बोल···,"

लड़का—"हाँ, हाँ!"

माँ—"क्या···क्या तूने माफी माँगी है? तूने माफी माँगी है! (क्रोध) तो फिर···तो फिर तेरे लिए इस घर में कोई जगह नहीं है। जा यहाँ से···"

लड़का—(रोता हुआ) "माँ···माँ··,"

माँ—(क्रोध) "मैं कहती हूँ, तू अभी निकल!"

लड़का—(गिड़गिड़ाकर) "गलती हुई। अब तो माफ कर दो। माफ कर दो, माँ!"

पर माँ तो पत्थर की थी। उसी तरह बोली, "माफ कर दूँ! माफी चाहता है?"

लड़का—"हाँ, माँ! अब फिर ऐसा नहीं करूँगा।"

माँ—"नहीं, मैं तुझे इस तरह माफ नहीं करूँगी। तुझे प्रायश्चित्त करना होगा। करेगा?"

लड़का—"करूँगा।"

माँ—"तू जेल जाएगा।"

लड़का—"जाऊँगा।"

माँ—"तो फिर अभी वापस जेल जा। तुझे वहाँ मार खानी पड़े, खा लेना। प्राण देने पड़ें, दे देना; पर लौटकर इधर न आना।"

लड़के ने आँसू पोंछ लिये। फिर चुपचाप माँ के चरण छूकर चला गया।

□

सबसे बड़ा शिल्पी

सुलेमान का प्रसिद्ध मंदिर बनकर तैयार हो चुका था। उसके उपलक्ष्य में भोज की तैयारियाँ हो रही थीं। वह भोज मंदिर का निर्माण करनेवाले सभी कारीगरों और शिल्पियों के सम्मान में दिया जाने वाला था। भोज के लिए जो स्थान चुना गया था, वह कारीगरों के अनुरूप सुंदर और कलापूर्ण था। नीले आसमान के नीचे एक बहुत लंबा-चौड़ा और खूबसूरत चँदोवा लगाया गया था और महाराज के सिंहासन के दोनों ओर कुमुदिनी तथा दाड़िम से अंकित काँसे के स्तंभ थे। भोजन के चुनाव में भी सुरुचि, स्वास्थ्य और स्वाद का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया था। सौंदर्य और कला के प्रतीक मंदिर की भाँति वह भोज भी सुलेमान के वैभव का प्रतीक था।

लगभग सभी अतिथि आ चुके थे और वातावरण मौन गूँज से गूँज रहा था। सभी प्रसन्न थे और एक-दूसरे का दिल से स्वागत कर रहे थे; परंतु इस हर्ष और आनंद के बीच उसकी दृष्टि रह-रहकर एक खास दिशा की ओर उठ जाती थी। महाराज के दाहिनी ओर एक स्थान अभी खाली था। वह सबसे बड़े कलाकार के लिए सुरक्षित था। वे लोग रह-रहकर फुसफुसा उठते थे और उस फुसफुसाहट का अर्थ था, इस स्थान पर कौन भाग्यशाली बैठेगा?

बेजान पत्थरों में दिव्य दूतों को अंकित करनेवाला संगतराश सोचने लगा, 'क्या मैं ही इस पद का अधिकारी नहीं हूँ?'

'यह स्थान शायद मेरे लिए सुरक्षित है।' सोने की छत बनानेवाले ने मन-ही-मन कहा।

इसी प्रकार सुंदर दीवारों का निर्माण करनेवाला और वह जिसने देवदार के आभूषण बनाए थे और सब अन्य अपने-अपने को सबसे बड़ा शिल्पी मानने लगे।

भोज का क्रम चलता रहा।

सहसा द्वार पर आहट हुई।

"कौन है?" सुलेमान ने पूछा।

उत्तर में एक अजीबोगरीब और भद्दे से आदमी ने वहाँ प्रवेश किया। सभी की दृष्टि उसकी ओर उठी और दूसरे ही क्षण तिरस्कार की भावना से झुक गई। त्योरियाँ चढ़ाकर महाराज ने पूछा, "तुम कौन हो?"

आगंतुक ने उत्तर दिया, "श्रीमान्, मैंने सुना है कि आप सबसे बड़े शिल्पी की खोज में हैं। मैं उसी संदर्भ में आया हूँ।"

सभा पर जैसे वज्रपात हुआ। दृष्टियाँ फिर उठीं। उनमें कौतूहल था, विस्मय था और था भस्म कर देनेवाला क्रोध। पवित्र देवदूतों को जिसने अंकित किया था, सबसे पहले वही घृणा से भरकर बोला, "मैं इसे नहीं जानता।"

"और मैं भी नहीं।" सोने की छत बनानेवाले ने उसी तेज घृणा से कहा।

"मैं भी नहीं।" सुंदर दीवारों का निर्माण करनेवाला और भी तेजी से चिल्लाया।

देवदार से आभूषण बनानेवाला भी नहीं चूका। उसने भी चिल्लाकर कहा, "नहीं, मैं भी नहीं।"

फिर तो एक के बाद एक, एक से बढ़कर एक तेज और घृणा भरे स्वर गूँजे, "नहीं, हम इसे नहीं जानते।"

महाराज क्रोध से काँप उठे। बोले, "मैं पूछता हूँ, तुम्हें पत्थरों और कोड़ों से क्यों न मार डाला जाए?"

वह विचित्र व्यक्ति इन बातों से जरा भी विचलित नहीं हुआ। महाराज का प्रश्न सुनकर वह उसी विश्वास के साथ बढ़ा और बोला, "यहाँ पर सभी प्रसिद्ध कारीगर और शिल्पी उपस्थित हैं। मैं उनसे एक बात पूछना चाहता हूँ।"

क्षणिक सन्नाटे के बाद महाराज ने कहा, "पूछो, क्या पूछना चाहते हो?"

"मैं पूछना चाहता हूँ, आपके इन शिल्पियों के वे औजार, जिनसे इन्होंने इस भवन का निर्माण किया है, किसने बनाए थे?"

"किसने बनाए थे?" कई शिल्पी एक साथ बोल उठे, "वाह, वह तो लुहार है।"

आगंतुक उसी शांति से बोला, "तो मैं वही लुहार हूँ। यदि मैं अपनी धुँए से भरी हुई भट्‍ठी के पास बैठकर मेहनत न करता तो क्या आप लोग सौंदर्य और कला को उत्कृष्ट रूप दे सकते थे?"

दृष्टियाँ फिर उठीं, पर इस बार उनमें न विस्मय था, न क्रोध और न तिरस्कार। उनमें थी पराजय और उसकी महानता की मूक स्वीकृति।

सुलेमान ने क्षण भर विस्मय और हर्ष से आगंतुक को देखा और फिर गुरु गंभीर स्वर में कहा, "आओ और मेरे दाहिनी ओर इस खाली जगह पर बैठ जाओ!"

(एक हिब्रू गाथा)

□

ऋणी

मिश्रजी के मेहमान संध्या की गाड़ी से जाने वाले थे और उन्हें दो रुपए की जरूरत थी। संयोग की बात, उस दिन उनकी जेब खाली थी। इधर-उधर माँगे, कई मित्रों को टटोला; पर कोई फल नहीं। अब हो तो कैसे हो? घर में दो रुपए नहीं, मेहमान क्या कहेगा!

वह इसी चिंता में थे कि एक देहाती ने आकर कहा, "मैं पं. कन्हैयालाल के दर्शन करना चाहता हूँ।"

मिश्रजी चौंके, बोले, "जी, कहिए! क्या आज्ञा है?"

देहाती—"तुम कन्हैयालाल हो?"

मिश्रजी—"जी!"

देहाती—"पं. रामदत्त के लड़के?"

मिश्रजी—"जी हाँ! मैं उन्हीं का पुत्र हूँ। कहिए, क्या बात है? क्या आप उन्हें जानते थे?"

आगंतुक के चेहरे का रंग कुछ पलटा। रेखाएँ ढीली पड़ीं, आँखें कुछ गीली हुईं। रुँधे कंठ से कहा, "हाँ बेटा, मैं उन्हें जानता था। वह देवता थे।"

समस्या सुलझने के स्थान पर और उलझ गई। मिश्रजी ने वृद्ध को आदर से अपने पास बैठाया। क्षण भर के लिए वह रुपयों की बात भूल गए, पर यह क्या! वह वृद्ध तो गाँठ से रुपए निकाल रहे हैं। देखा—पाँच रुपए हैं। वृद्ध ने वे रुपए मिश्रजी के आगे रख दिए।

मिश्रजी के नेत्र चमक उठे, पर उन्होंने संयत स्वर में पूछा, "ये रुपए कैसे हैं?"

रुँधी वाणी में वृद्ध ने कहा, "कोई १९-२० साल की बात है। सोमती-मावस पर मैं हरिद्वार जा रहा था। तुम्हारे पिताजी भी थे। रेल में उनसे बातचीत

हुई। बड़े भले आदमी थे। अब उन जैसे देवता कहाँ? उनके दर्शन करने तुम्हारे घर देवबंद गया था। वहीं पता लगा कि वह तो राम के प्यारे हुए। तब यहाँ आया हूँ। सो भाई, उस यात्रा में किसी ने मेरा बटुआ निकाल लिया था। तुम जानो, उठाईगीरे ऐसे ही दिनों की ताक में रहते हैं। बटुआ क्या निकला, मेरा तो जी निकल गया। अब कैसे टिकट लूँगा? पर तुम्हारे पिताजी ने मुझे तसल्ली दी और पाँच रुपए दिए। वे रुपए मैं हर साल लौटाने की सोचता था, पर बानक ही नहीं बनता था। अब बना तो आया हूँ, पर उनके दर्शन नहीं कर सका।''

मिश्रजी कथा सुन रहे थे और सोच रहे थे—धरती जो रसातल को नहीं जाती सो इन्हीं लोगों के कारण! कैसे दयानतदारी को जकड़े फिरते हैं।

अपनी बात पूरी कर वृद्ध ने लकड़ी उठाई और कहा, ''अच्छा भाई, चलता हूँ।''

तब मिश्रजी को होश आया। लपककर उस देहाती वृद्ध के पैर छू लिये। वृद्ध सकुचा गया और क्षमा माँगता हुआ चला गया। मिश्रजी तो इतने खो गए थे कि उनका नाम-धाम पूछना भी भूल गए।

□

सहानुभूति

लुई माइकेल चार वर्ष बाद जेल से छूटीं तो सीधे अराजकवादियों की एक सभा में पहुँचीं। वहाँ एक आदमी ने, जो शराब के नशे में धूत था, उनपर गोली चला दी। भाग्य से वह तो बच गईं, पर उनका एक कान बुरी तरह कट-फट गया।

वह आदमी पकड़ा गया और शासकों ने उसपर हत्या का अभियोग चलाया। जिस दिन न्यायालय में उसकी पहली पेशी हुई तो जनता ने चकित होकर देखा, शराबी की पैरवी करनेवाली स्वयं लुई माइकेल हैं। उनके कान पर पट्टी बँधी हुई है, परंतु उनके मुख पर सदा रहनेवाली प्रफुल्लता है। उनका स्वर दृढ़ है और वह एक दक्ष वकील की भाँति कह रही हैं, ''श्रीमान्, मैं जानती हूँ, इस व्यक्ति ने मुझ पर हमला किया है···।''

न्यायाधीश ने टोका, ''बेशक, इसी अपराध के लिए इसपर अभियोग चलाया गया है।''

''सुनिए तो!'' लुई बोलीं, ''मैं कहना चाहती हूँ कि वह व्यक्ति अपराधी होकर भी दुष्ट नहीं है।''

''तो क्या है?'' न्यायाधीश ने व्यंग्य से पूछा।

''निर्बल।''

''निर्बलता स्वयं एक अपराध है।''

''बेशक है,'' तुरंत उत्तर आया, ''परंतु वह सजा देने से दूर नहीं हो सकती।''

''तो किससे हो सकती है?'' न्यायाधीश कुछ सकपकाए।

''सहानुभूति से।'' यह कहकर वह अपने डॉक्टर की ओर मुड़ीं, बोलीं, ''डॉक्टर, मैं एक योद्धा हूँ। कृपा कर न्यायाधीश से कह दीजिए कि मुझे गहरी चोट नहीं लगी है, मामूली-सी चोट आ गई है।'' □

कर्तव्य-निष्ठा

अचानक आधी रात के समय कुछ लोगों ने विलियम कार्टराइट की मिल पर धावा बोल दिया। यह मशीन-युग के शुरुआत की बात है। उस काल में ऐसी घटनाएँ अकसर होती रहती थीं। मशीन ने शरीर-श्रम की जीविका छीन ली थी। यह धावा भी इसी कारण हुआ था। धावा करनेवाले भयानक शस्त्रों से सज्जित थे। उधर मिलवाले भी असावधान नहीं थे। उन्होंने ईंट का जवाब पत्थर से दिया। दोनों ओर से अनेक व्यक्ति घायल हुए।

धावा बोलनेवालों में बूथ नाम का एक युवक था। उसकी आयु केवल उन्नीस वर्ष थी। इस हमले में उसकी एक टाँग टूट गई। वह भाग नहीं सका और मिलवालों के हाथ पड़ गया। उसे अस्पताल ले जाया गया। वहाँ उसके पास सदा एक पादरी बैठा रहता था। मिल-मालिकों को आशा थी कि वह पादरी को अपने दूसरे साथियों के नाम बता देगा। वे उन सब पर मुकदमा चलाना चाहते थे।

बूथ इस बात को जानता था। एक दिन जब प्रभात की किरणें फूट रही थीं, उसने पादरी को अपने पास आने का संकेत किया। पादरी की आशा जगी। उसने बहुत ही प्यार से पूछा, "कहो बेटे, क्या बात है?"

बूथ ने धीमे, पर दृढ़ स्वर में कहा, "अगर कोई आपको अपना रहस्य बताए तो क्या आप उसे गुप्त रख सकते हैं?"

"हाँ-हाँ, क्यों नहीं!" पादरी ने बेहद प्रसन्न होकर जवाब दिया, "मैं विश्वासघात को सबसे बड़ा पाप मानता हूँ, मेरे बच्चे!"

बूथ के मुख पर प्रसन्नता की रेखाएँ चमक उठीं। उसने मुस्कराकर शांति से कहा, "मैं भी यही मानता हूँ।"

इसके कुछ क्षण बाद ही, उस रहस्य को अपनी छाती में छिपाए हुए, उसने आखिरी साँस ली। □

बड़ा दिल

पं. रामदत्त का छोटा बेटा नहर में डूबकर मर गया। लोग इस संबंध में तरह-तरह की बातें करते थे। पंडितजी जानते थे कि सत्य क्या है। सारी शरारत उनके एक संबंधी की थी। कमबख्त ने बच्चे को बहकाकर नहर में डुबो दिया था। सात परदों में छिपाने पर भी बात कभी छिपी नहीं रहती। किसी कान के कच्चे को उसका पता लग गया, फिर तो वह सार्वजनिक संपत्ति बन गई। पुलिस ने पंडितजी से पूछा, "आपको किसी पर शक है?"

पंडितजी, "शक किस पर होता दारोगाजी! नहाने घुसा था, पैर रपट गया।"

दारोगा—"पर सुना है…।"

पंडितजी—(बात काटकर) सुनने को तो बहुत सी बातें हैं, दारोगाजी।"

दारोगा—"तो लिख दूँ, हादसा हो गया?"

पंडितजी—"हाँ दारोगाजी! यह मेरे भाग का हादसा है।"

दारोगाजी चले गए। जब बेटे का बाप ही ऐसा कहे तो पुलिस क्या करे! चुप हो गई। उसके पास कोई प्रमाण नहीं था और कानून प्रमाण के अभाव में बेकार है। लेकिन माँ तो माँ है। वहाँ भावना प्रमाण से ऊपर है। उसके हृदय में पहले ही आग जल रही थी। जब उसने यह कहानी सुनी तो भभक उठी। सीधे पति के पास जाकर बोली, "तुमने उसे छुड़वा दिया!"

पंडितजी—"और क्या करता?"

पंडितानीजी—"और क्या करते? उसे फाँसी पर चढ़वाते। उसने मेरा घर उजाड़ा है, उसने…।"

क्रोध से फुंकारती हुई वह माँ आग के आँसू बहाने लगी, परंतु पं. रामदत्त उसी तरह शांत रहे, बोले, "तू नहीं जानती पगली। मैं कुछ कहता तो वह बँध जाता।"

पंडितानीजी—"यही तो मैं चाहती थी।"

पंडितजी—"क्यों?"

पंडितानीजी—"मेरी छाती ठंडी होती।"

पंडितजी—"पगली, अभी तो एक घर में आग लगी है, तब दो में लग जाती। उससे क्या लाभ होता!"

□

अपनी-अपनी समझ

लंदन दुनिया का सबसे बड़ा नगर है। उसकी सड़कों पर भीड़ रहना स्वाभाविक है। इसी कारण पैदल चलनेवाले बड़ी कठिनाई से सड़क पार कर पाते हैं। एक दिन ऐसा हुआ कि एक धनी नारी बहुमूल्य पोशाक पहने जल्दी-जल्दी पगडंडी से सड़क की ओर बढ़ी। वह सड़क पार करना चाहती थी और जिस गति से वह बढ़ रही थी, उसमें उसे रुकने का तनिक भी अवकाश नहीं था। जैसे ही वह लपकी वैसे ही एक बस तेजी से उधर आई। बिजली-सी कौंध गई। सबको लगा—वह धनी नारी कुचल गई।

यह सब पलक मारते हो गया। अनके दृष्टियाँ एक साथ उस नारी के कुचले शरीर को देखने को उठीं। लेकिन यह क्या, वह तो पगडंडी पर खड़ी एक मजदूर को डपट रही है!

बात यह थी कि जैसे ही वह नारी सड़क पार करने को लपकी, वैसे ही उस मजदूर ने आनन-फानन में उसकी पोशाक पकड़कर खींच ली। नारी बस के नीचे आने से रह गई; परंतु उसकी बहुमूल्य पोशाक फट गई। बस, इसीलिए वह क्रोध से पागल होकर मजदूर को डपटने लगी, "कमबख्त, तू जानता है कि तूने क्या किया है? तुझे पता है कि मैं कहाँ जा रही थी? तूने मेरी पोशाक नष्ट कर दी। तू अंधा है। देखकर नहीं चलता।"

मजदूर ने सबकुछ शांति से सुना, फिर उसी शांति से कहा, "धन्यवाद, श्रीमती!"

वह आगे बढ़ गया। पर यह क्या? यह कौन उसके हाथ को टटोल रहा है। वह शीघ्रता से मुड़ा। उसने अपना हाथ खोला, देखा—उसकी हथेली पर हाफ क्राउन (एक अंग्रेजी सिक्का) है।

उसी समय एक व्यक्ति तेजी से भीड़ में बढ़ा चला जा रहा था। □

सहिष्णुता

भदंत आनंद कौसल्यायन बौद्ध भिक्षु हैं। भिक्षु होते हैं प्रवासी। ज्ञान का खोजी कहीं एक स्थान पर चिपककर नहीं रह सकता। उसको धरती के चारों कोनों पर जाना पड़ता है। आनंदजी भी उसी जाति के हैं। घूमते-घूमते एक बार वह साँची जा पहुँचे। वहाँ बहुत पुराने बौद्ध स्तूप हैं। भारत का राष्ट्रीय-चिह्न अशोक-चक्र वहीं है। भिक्षु आनंद घूम-घूमकर बहुत देर तक उन खँडहरों को देखते और उनकी आवाज सुनते रहे। वहाँ के अधिकारी ने उन्हें एक तो साधु और फिर पढ़ा-लिखा समझकर कहा, ''आप आए हैं तो साहब से मिलते जाइए।''

भिक्षु—''कौन साहब?''

अधिकारी—''यहाँ के अध्यक्ष घोषाल महोदय।''

भिक्षु उनसे मिले। वह अचकन-पाजामाधारी बंगाली सज्जन थे। बातचीत के उपरांत उन्होंने भिक्षु को भोजन का निमंत्रण दिया। दोनों घर आए। घोषाल महोदय की बूढ़ी माँ ने बड़ी श्रद्धा और बड़े स्नेह से उनका स्वागत किया। भोजन तैयार था। उन्होंने थाली परोसकर पुत्र के लिए बैठक में भिजवा दी और भिक्षु के लिए वहीं अपने साथ चौके में रख ली।

यह बात भिक्षु की समझ में नहीं आई, पूछा, ''क्यों माताजी, घोषाल बाबू क्या यहाँ भोजन नहीं करेंगे?''

माँ—''वह यहाँ कैसे खा सकता है?''

भिक्षु—''क्यों, ऐसी क्या बात है?''

माँ—''बात क्या होगी, स्वामीजी! मेरा बेटा ईसाई है।''

इससे पहले कि भिक्षु इस अचरज को समझ सके, माँ ने कहा, ''जल्दी भोजन कर लो, स्वामीजी! हमें घोषाल के साथ गिरजाघर चलना है।''

भिक्षु—"क्यों?"

माँ—"आज उसका बड़ा पादरी आया है। उनका उपदेश सुनना है।"

भिक्षु खाना खाते जाते थे और सोचते जाते थे कि वह इस दुनिया में हैं या स्वप्न-लोक में?

□

पत्थर

सुलोच के बाल कट गए। नाई ने कहा, ''पैसे दो!''

सुलोच ने ताऊजी से कहा, ''नाई पैसे माँगता है।''

ताऊजी ने कहा, ''जा, अपनी माँ से ले आ।''

सुलोच—''तुम दो। तुम्हारे पास हैं। तुमने अपने भी तो दिए हैं।''

पर ताऊजी नहीं माने। सुलोच माँ के पास गई, बोली, ''माँ, मैंने बाल कटवाए हैं, पैसे दो।''

माँ मुस्कराकर बोली, ''किसके साथ गई थी?''

सुलोच—''ताऊजी के।''

माँ—''तो उन्होंने पैसे नहीं दिए?''

सुलोच—''नहीं।''

माँ—''क्यों?''

सुलोच—''कहते हैं, तेरी माँ देगी।''

माँ की त्योरियाँ चढ़ गईं। बोली, ''उनके पैसे किसने दिए हैं?''

सुलोच—''उन्होंने ही दिए हैं।''

माँ के मन में आग लग गई। उसने सुलोच को तो पैसे दे दिए, पर संध्या को जब सुलोच के पिता घर लौटे तो उन्हें सारी कहानी सुनाई और आग-बबूला होकर बोली, ''इस बात का क्या मतलब होता है? एक बच्ची के बाल कटवाने के पैसे नहीं दे सके! हम उनके लिए इतना करते हैं!''

पिता ने लापरवाही से कहा, ''तो क्या हो गया?''

माँ—''कुछ नहीं हुआ! उन्होंने अपने पैसे दिए और सुलोच को मेरे पास भेज दिया! क्या वह हजामत के पैसे नहीं दे सकते थे?''

पिता—''दे सकते थे, पर उससे क्या?''

माँ—"है क्यों नहीं…।"

पिता—(एकदम) "मैं कहता हूँ, अब खत्म भी करो!"

माँ—"खत्म क्या करना था! मुझे यह सब अच्छा नहीं लगता। उन्हें सोचना चाहिए। वह हमारे बच्चों को पराया समझते हैं!"

पिता ने बड़े आराम से करवट बदली, "अच्छी बात है। कहे जाओ, मैं सुन रहा हूँ।"

माँ उबल पड़ी, बोली, "सुन क्या रहे हो! तुम्हीं ने सबको बिगाड़ा है। दुनिया भर के लिए मरते फिरते हो। रात देखते हो, न दिन; अपना ध्यान नहीं रखते; पर दूसरे क्या हैं, यह भी तो देखना चाहिए। यह एक मिसाल है। आज तो सब लायक हो। कल को कुछ हो गया तो कोई भी पास न फटकेगा।"

वह बहुत देर तक इसी प्रकार बक-झक करती रही। जब काफी देर हो गई तो सुलोच के पिता ने गरदन उठाकर कहा, "अब कह चुकी न?"

माँ—"कह क्या चुकी, मेरे आग लग रही है!"

पिता—"वह तो बुझ जाएगी; पर सुनो, मैं मानता हूँ कि भाई साहब ने बुरा किया…।"

माँ—"बुरा क्या, बहुत बुरा किया।"

पिता—"बेशक बहुत बुरा किया, परंतु अब क्या तुम मुझसे यह चाहती हो कि मैं उनसे जाकर लड़ूँ और उनसे भी बुरा काम करूँ?"

माँ एक बार तो ठगी-सी रह गई, पर फिर धीरे से बोली, "तुम तो पत्थर हो…तुमसे कोई क्या कहे!"

□

शांति की राह

वे लोग हवाई जहाज में बैठकर आए थे और सुंदर-से-सुंदर होटलों में उनके रहने का प्रबंध किया गया था। वे इस देश के अतिथि थे और शांति की राह खोज लेना चाहते थे। उनमें सभी विद्वान्, चिंतक, साधक थे। उनमें शासक-वर्ग और शासित-श्रेणी के लोग थे। उनमें वृद्ध, प्रौढ़ व युवक थे। उनमें नर थे और नारियाँ थीं। वस्तुतः उनमें नाना वर्ण, नाना राष्ट्र और नाना जातियों के लोग थे और वे सब शांति के उपासक थे। बेशक उनकी राह अलग-अलग थी, पर वे सब युद्ध से ऊब चुके थे और रोज-रोज का संघर्ष उन्हें पीड़ा देता था।

उनमें एक युवक था। वह विश्व के सुदूर उत्तर के देश स्वीडन से चलकर आया था। वह कभी चित्रकार था, परंतु आज तो उसका पेशा बागबानी था, क्योंकि यह युद्ध का विरोधी था और उसका देश उसकी कला का उपयोग युद्ध में करना चाहता था। इसलिए उसने चित्रकारों को अंतिम प्रणाम करके बागबानी को अपना लिया था। अब उसे कोई युद्ध में सहयोग देने को नहीं कह सकता था।

औरों की तरह उसका भी स्वागत हुआ। उसे बंबई के ताजमहल होटल में, जहाँ लक्ष्मी वैभव लुटाती है और ऐश्वर्य अँगड़ाई लेता है, ले जाया गया। उसे देखकर उस पुराने चित्रकार का मन चकित रह गया। वह खुली आँखों से बहुत देर तक उस वैभव को निहारता रहा। उसने सोचा, 'क्या यही भारत है! क्या यहीं रहकर वह शांति-दूत (गांधीजी) शांति-युद्ध का संचालन करता था!'

'नहीं-नहीं!' वह कई क्षण इसी भूलभुलैया में डूबता-उतराता बोल उठा, 'नहीं, यह भारत नहीं है। मैं भारत देखने आया हूँ, सच्चा भारत! गांधी का भारत!'

यह कहकर वह रुका नहीं। अपना बैग उठाकर वहाँ से बहुत दूर चला गया—बहुत दूर, जहाँ भारत की मेहनतकश जनता रहती है। उन्हीं के साथ वह

ठहरा। उन्होंने गद्गद होकर उसके लिए स्थान खाली किया, लेकिन वह बोला, ''मुझे केवल उतनी जगह चाहिए जितनी में एक मनुष्य रह सकता है।''

वे उसके लिए विशेष खाने का प्रबंध करने चले, पर उसने कहा, ''मैं वही खाऊँगा, जो तुम खाते हो और तुम्हारे साथ काम करके खाऊँगा, वैसे नहीं। मैं भारत की आत्मा को देखना चाहता हूँ, भारत की शान को नहीं।''

भारत की मेहनतकश जनता तब अपने जैसे उस अनोखे विदेशी को देखकर आनंद से पुलकित हो उठी।

□

निर्भयता

अँधेरी रात थी और उनका जहाज समुद्र की तूफानी लहरों से टकराकर टुकड़े-टुकड़े हो चुका था। चारों ओर भय और मौत का चीत्कार उठ रहा था। कुछ लोगों को लहरें निगल चुकी थीं और जो कुछ तैरना जानते थे, वे उनसे लड़ते हुए किनारे की ओर बढ़ रहे थे। कुछ अभी तक जहाज के टूटे हुए टुकड़ों से चिपके हुए थे। उन्हें आशा थी कि शायद बचानेवाले अब भी आ सकते हैं।

तभी एक साहसी तैराक ने, जो किनारे की ओर बढ़ रहा था, सुना—जैसे कहीं से स्वर्गीय संगीत का स्वर आकर वहाँ फैल गया है। वह ठिठका—कौन गाता है! क्या हमें बचाने के लिए स्वर्ग से देवता उतर आए हैं!

उसने दृष्टि उठाई। पास ही एक बेड़े से कुछ नारियाँ चिपकी हुई थीं। बेड़ा मौत के झूले में झूल रहा था। किसी भी क्षण लहरें उसे निगल सकती थीं, लेकिन वहीं से वह मधुर संगीत उठ रहा था। वह तैराक उस बेड़े के और पास आया। अब उसने स्पष्ट देखा—उन्हीं नारियों में से एक नारी के ओठ हिल रहे हैं। वह तन्मय होकर गा रही है। उसके स्वर में एक अनोखी मिठास है, एक अजीब मस्ती है और वह परम शांत है, जितनी कि किसी आनंद-भवन की गोष्ठी में हो सकती है।

तब मौत की गोद में लेटा हुआ वह तैराक आनंद से भरकर मुस्करा उठा।

□

ईश्वर का चेहरा

प्रभा जानती है कि धरती पर उसकी छुट्टी समाप्त हो गई है। उसे दुःख नहीं है। वह तो चाहती है कि जल्दी-से-जल्दी अपने असली घर जाए। उसी के वार्ड में एक मुसलिम खातून भी उसी रोग से पीड़ित है। न जाने क्यों वह अकसर प्रभा के पास आ बैठती है। सुख-दुःख की बातें करती है। नई-नई पौष्टिक दवाइयाँ, फल तथा अंडे आदि खाने की सलाह देती है।

प्रभा सुनती है, मुस्करा देती है। सबीना बार-बार जोर देकर कहती है, "ना बहन, मैंने सुना है कि यह दवा खाने से बहुत फायदा होता है और अमुक चीज खाने से तो तुम्हारे से खराब हालत वाले मरीज भी खुदा के घर से लौट आए हैं।"

"सच?"

"हाँ बहन, आजमाई हुई चीजें हैं।"

"तुमने खुद आजमाकर देखी है?"

सबीना एकाएक सकपका गई। उसका चेहरा मुरझा गया। एक क्षण शून्य में देखती रही। फिर बोली, "बहन, हम उन चीजों का इस्तेमाल कैसे कर सकेंगे? बहुत महँगी हैं और हम ठहरे झोंपड़-पट्टी के रहनेवाले। तुम्हें कितने लोग घेरे रहते हैं। उन लोगों को तो मैंने कई बार रोते देखा है। तुम ये महँगी चीजें खरीद सकती हो। शायद तुम्हारे बच्चों के भाग्य से अल्लाताला तुम पर करम फरमा दें।"

प्रभा सुनती रही, सबीना के चेहरे पर एकटक दृष्टि गड़ाए रही। उसे बराबर लगता रहा कि ईश्वर का अगर कोई चेहरा होगा तो सबीना के जैसा ही होगा।

□

फर्क

उस दिन उसके मन में इच्छा हुई कि भारत और पाक के बीच की सीमा-रेखा को देखा जाए—जो कभी एक देश था, वह अब दो होकर कैसा लगता है। दो थे तो दोनों एक-दूसरे के प्रति शंकालु थे। दोनों ओर पहरा था। बीच में कुछ भूमि है जिस पर किसी का अधिकार नहीं। दोनों उसपर खड़े हो सकते हैं। वह वहीं खड़ा था, लेकिन अकेला नहीं था—पत्नी थी और थे अठारह सशस्त्र सैनिक और उनका कमांडर भी। दूसरे देश के सैनिकों के सामने वे उसे अकेला कैसे छोड़ सकते थे? इतना ही नहीं, कमांडर ने उसके कान में कहा, "उधर के सैनिक आपको चाय के लिए बुला सकते हैं, जाइएगा नहीं। पता नहीं क्या हो जाए? आपकी पत्नी साथ में है और फिर कल हमने उनके छह तस्कर मार डाले थे।"

उसने उत्तर दिया, "जी नहीं, मैं उधर कैसे जा सकता हूँ?"

और मन-ही-मन कहा—मुझे आप इतना मूर्ख कैसे समझते हैं? मैं इनसान हूँ, अपने-पराए में भेद करना मैं जानता हूँ। इतना विवेक मुझमें है।

वह यह सब सोच ही रहा था कि सचमुच उधर के सैनिक वहाँ आ पहुँचे। रोबीले पठान थे। बड़े तपाक से हाथ मिलाया। उस दिन ईद थी। उसने उन्हें मुबारकबाद कहा। बड़ी गर्मजोशी के साथ एक बार फिर हाथ मिलाकर वे बोले, "इधर तशरीफ लाइए। हम लोगों के साथ एक प्याला चाय पीजिए।"

इसका उत्तर उसके पास तैयार था। अत्यंत विनम्रता से मुस्कराकर उसने कहा, "बहुत-बहुत शुक्रिया। बड़ी खुशी होती आपके साथ बैठकर, लेकिन मुझे आज ही वापस लौटना है और वक्त बहुत कम है। आज तो माफी चाहता हूँ।"

इसी प्रकार शिष्टाचार की कुछ और बातें हुईं कि पाकिस्तान की ओर से कुलाँचें भरता हुआ बकरियों का एक दल उनके पास से गुजरा और भारत की

सीमा में दाखिल हो गया। एक साथ सबने देखा। एक क्षण बाद उसने पूछा, ''ये आपकी हैं?''

उनमें से एक सैनिक ने गहरी मुस्कराहट के साथ उत्तर दिया, ''जी हाँ जनाब, हमारी हैं। जानवर हैं, फर्क करना नहीं जानते।''

□

दो यात्राओं का अंतर

अचानक देखता हूँ कि मेरी एक्सप्रेस गाड़ी जहाँ नहीं रुकनी थी वहाँ रुक गई है। उधर से आनेवाली मेल देर से चल रही है। उसे जाने देना होगा। कुछ ही देर बाद वह गाड़ी धड़ाधड़ दौड़ती हुई आई और निकलती चली गई; लेकिन उसी अवधि में प्लेटफॉर्म के उस ओर आतंक और हताशा का सम्मिलित स्वर उठा। कुछ लोग इधर-उधर भागे, फिर कोई बच्चा बिलख-बिलखकर रोने लगा।

मेरी गाड़ी भी विपरीत दिशा में चल पड़ी थी। उधर से दौड़ते आते कुछ यात्री उनमें चढ़ गए। एक कह रहा था, "च…च…च्च… बुरा हुआ, धड़ और सिर दोनों अलग हो गए।"

"किसके?" मैंने पूछा।

"एक लड़का था, सात-आठ वर्ष का।"

"ओह! किसका था?"

"साहब, ये चाय बेचनेवाले बच्चे हैं। चलती ट्रेन में चढ़ते-उतरते हैं। दो भाई थे, एक तो उतर गया। दूसरे का संतुलन बिगड़ गया और गिर पड़ा।"

"कोई रोकता नहीं उन्हें?"

वह हँसा, "कौन रोके? इनका बाप भी चाय बेचता था। चालीस-पचास रुपए तक कमा लेता था, पर सब शराब में उड़ा देता था। अब तो अल्कोहलिक हो गया है। न जाने कहाँ पड़ा रहता है! छह बच्चे हैं—दो लड़के, चार लड़कियाँ। ये दोनों भाई किसी तरह सबका पेट भर रहे थे, अब…।"

एक्सप्रेस गाड़ी तीव्र गति से दौड़ती हुई मुझे मेरी यात्रा के अगले पड़ाव की ओर ले जा रहा थी। मौत की गाड़ी उस बच्चे को भी इस लोक से उस लोक की यात्रा पर ले गई थी।

पर उन दो यात्राओं में कितना अंतर था! □

आपन जन

गाड़ी जैसे ही प्लेटफॉर्म पर रुकी तो संस्था के बिल्ले लगाए स्वागत समिति के सदस्यों ने उसे घेर लिया। पुष्पमाल्य-धूप-धूनी—कहीं कोई कृपणता नहीं थी। किसी ने उसका बैग लिया, किसी ने सामान, उसके कंधे पर पड़ी थर्मस तक एक स्वयंसेवक के कंधे पर स्थानांतरित हो गई।

आवास पर भी आदर-अभ्यर्थना का ज्वार उमड़ता रहा। वह बाथरूम जाना चाहता तो स्वयंसेवक दौड़कर द्वार खोल देता। पानी लेने को हैंडपंप चलाना चाहता तो स्वयं सचिव महोदय उसकी बालटी भर देते। कपड़े धोने को होता तो स्वयंसेवक दौड़कर उसके हाथ से कपड़े छीनकर धो डालता और सुखा आता।

जिस आग्रह और प्रचुरता से उसे भोजन कराया गया, उससे वह लाज के मारे सिमट-सा गया। उसे कब क्या चाहिए और कितना चाहिए, सबका हिसाब उसके आतिथेय को मालूम था।

दूसरे दिन सवेरे जब उसने आँखें खोलीं तो आस-पास कोई नहीं था। चाय की ट्रे मेज पर रखी थी। बाथ रूम भी खुला था और बालटी में पानी था। उसने कपड़े धोए। बस स्वयंसेवक उन्हें लेकर सुखा आया।

भोजन के समय उसने जो कुछ निकालना चाहा तो औपचारिक आग्रह का धीमा स्वर उठा जरूर पर किसी ने विशेष आपत्ति नहीं की।

रात्रि के समारोह के बाद एक स्वयंसेवक रिक्शा ले आया और उसे डेरे तक पहुँचा गया। सोने से पूर्व देर तक वह परिवार के सदस्यों से बातें करता।

तीसरे दिन जब वह सोकर उठा तो कहीं कोई नहीं था। काफी देर बाद एक बालिका दौड़ती हुई आई। बोली, "अंकल, आप जग गए। चाय ले आऊँ?"

"ले आओ बिटिया।"

थोड़ी देर बाद चाय का गिलास लिये बिटिया की मम्मी आगे थी और रोती

हुई बिटिया पीछे, ''देखिए न, यह कहती है अंकल को चाय मैं दूँगी।''

''तो देने दीजिए उसे।''

''गिरा देगी न!''

''पर कितनी खुशी होगी उसे!''

उसे गिलास थमाते बिटिया सचमुच कितनी खुश थी और वह कितना उत्फुल्ल।

हँसती-हँसती माँ बोली, ''बाथरूम में अभी इसके पापा हैं। आपको देर तो नहीं होगी।''

''नहीं-नहीं।''

''ठीक है, नल से पानी ले लीजिए। बालटी होगी ही। नहाकर कपड़े यहाँ चौक में अरगनी पर डाल दीजिए। धूप आती है यहाँ, जल्दी सूख जाएँगे।''

''जी हाँ।''

जब वह कपड़े सुखा रहा था तो गृहस्वामिनी रसोई से बोली, ''खाना आप यहीं आकर खा लेंगे तो सुविधा होगी। वे लोग काम समेटने में व्यस्त हैं।''

उसने गद्गद होकर उत्तर दिया, ''वाह, इससे अच्छी बात और क्या हो सकती है! मैं अभी आता हूँ।''

उसकी खुशी का पार नहीं था। वह अब 'आपन जन' जो बन गया था।

□

दोस्ती

यात्रियों से भरी बस अब वहाँ आ पहुँची थी, जहाँ प्राय: सन्नाटा रहता था। दूर-दूर तक फैली बंजर भूमि। उससे परे छोटी-छोटी पहाड़ियाँ, सड़क पर गहरे गड्ढे। यात्री भी मौन हो गए थे मानो वातावरण ने उन्हें भी ग्रस लिया हो कि तभी उस त्रासद सन्नाटे को तोड़ती बस सहसा एक झटके के साथ रुक गई। गिरते-टकराते यात्री किसी आशंका से चौंक उठे। वे कुछ समझें कि एक क्रूर-कड़कता स्वर गूँज उठा, "खबरदार! जो कोई हिला। गोली मार दूँगा।"

ओह! ये तो डाकू हैं···

दिन का प्रकाश अभी शेष था, भयातुर दृष्टि से सबने देखा—सचमुच उनकी बस को डाकुओं ने घेर लिया था। उनके चेहरों पर नकाब था और हाथों में स्वचालित हथियार। क्षण भर में अनेक कंठों से चीख-सिसकियाँ उठीं-दबीं। हृदय की धड़कनें झंझा की तरह साँय-साँय करती रहीं।

और डाकू लूटते रहे—बटुए, जेवर, घड़ियाँ, सूटकेस—सभी कुछ सहेज लिया उन्होंने। किसी ने प्रतिवाद करने का साहस जुटाया कि कुंदे की मार पड़ी।

यात्रियों में एक विधायक भी था, सपत्नीक। वे दोनों भी नहीं बचे। कोई उनकी मदद को आगे नहीं आया। लेकिन जब डाकू जाने लगे तो अघटित घट गया। डाकुओं के सरदार ने एक-एक करके विधायक की चीजें लौटा दीं—पर्स, मणिमाला, ब्रीफकेस, सूटकेस सबकुछ।

वे चले गए। यात्रियों की दृष्टि अब विधायक पर थी। अपनी व्यथा भूलकर एक ने विधायक से पूछा, "उन्होंने आपकी सब चीजें लौटा दीं?"

"जी हाँ।"

"आप उन्हें जानते हैं?"

"जी हाँ।"

"कौन हैं ?"

"उनका लीडर मेरा सहपाठी रहा है और…"

"और…।"

"इस इलाके का उप-पुलिस अधीक्षक है वह।"

"क्या… ?" एक साथ कई चीख उठे।

दो क्षण बाद किसी ने साहस किया, "आप विधायक हैं। आपको इसकी रिपोर्ट मुख्यमंत्री से करनी चाहिए।"

"मैं ऐसा कुछ नहीं करूँगा।"

फिर एक साथ कई चीख उठे, "क्यों नहीं करेंगे ?"

"क्योंकि, उसने मुझसे दोस्ती निभाई। मैं उससे निभाऊँगा।"

□

वह बच्चा थोड़े ही न था

वह एक लेखक था। उसके कमरे में दिन-रात बिजली जलती थी। एक दिन क्या हुआ कि बिजली रानी रूठ गई। वह परेशान हो उठा। पाँच घंटे हो गए।

तभी ढाई वर्ष का शिशु उधर आ निकला। मस्तिष्क में एक विचार कौंध गया। बोला, ''बेटे! बिजली रूठ गई है, जरा बुलाओ तो उसे।''

शिशु ने सहज भाव से पुकारा, ''बिजली रानी, देर हो गई, जल्दी आओ।''

और संयोग देखिए, वाक्य पूरा होते-न-होते वह कमरा बिजली के प्रकाश में नहा उठा।

पापा वायुयान-चालक थे। उस दिन वे समय पर घर नहीं लौटे। एक घंटा, दो घंटा, पूरे चार घंटे हो गए। रात हो आई। मम्मी परेशान हो उठी।

तभी छोटी बच्ची भी पापा को पूछती-पूछती वहाँ आ पहुँची। मम्मी बोली, ''बेटी, तुम्हारे पापा अभी तक नहीं आए। बहुत देर हो गई। तुम उन्हें पुकारो तो।''

बच्ची ने सहज भाव से पुकारा, ''पापा देर हो गई, अब आ जाओ।''

तभी दरवाजे की घंटी बज उठी। पापा खड़े मुस्करा रहे थे। कैसा अद्‌भुत संयोग था यह!

उसकी पत्नी दूर बहुत चली गई थी—वहाँ जहाँ से डाक भी नहीं आती। एक दिन उसने सोचा, यदि मैं सच्चे मन से पुकारूँ तो क्या वह लौट नहीं आएगी।

वह सचमुच उसे बहुत प्यार करता था और उसका अभाव उसे बहुत खलता था, इसलिए एक दिन उसने सचमुच पुकार लिया—''प्रिये! तुम लौट आओ, मैं तुम्हारे बिना नहीं रह पा रहा।'' पर वह नहीं आई।

वह बच्चा थोड़े ही न था।

□

मुहब्बत

गाँव के प्राइमरी स्कूल में वह मेरा सहपाठी था। मेरी उसके साथ विशेष रूप से छनती हो, ऐसा नहीं था। फिर भी एकाएक वह घटना घट गई। ईद का दिन था। उस गाँव में ऐसा रिवाज था कि उस दिन हिंदू लोग अपनी गाय-भैंसों का दूध मुसलमानों में बाँट देते थे। बहुत सवेरे काम समाप्त हो जाता था। हमारी गाय-भैंसों का दूध भी उस दिन बँट चुका था। तभी मैंने देखा, मेरा सहपाठी लोटा लिये चला आ रहा है। लोटा खाली था। मैंने पूछा, ''तुम्हें दूध नहीं मिला?''

उसने उत्तर दिया, ''मुझे आने में देर हो गई। सारा दूध बँट गया।''

यह सुनकर मुझे अच्छा नहीं लगा। मन में करुण सी पैदा हुई। करुणा तो उसे अब कहता हूँ, तब की उस अनुभूति को शब्द नहीं दे सकता। उम्र भी तो हम दोनों की यही नौ-एक साल की रही होगी। उसपर वह बहुत गरीब था। मैंने कहा, ''जरा रुको।''

और मैं भागा-भागा अंदर गया। अपनी माँ से सारी बातें कहीं।

कहते-कहते स्वर कुछ भीग आया, शायद। माँ ने मेरी ओर देखा। बोली, ''दूध तो बेटा सब खत्म हो गया। तुम दोनों भाइयों के लिए बचा रखा है। बस…।''

मैंने बिना सोचे तुरंत कहा, ''वही दे दो।''

माँ ने एक बार फिर मेरी ओर देखा। कुछ कहा भी, लेकिन अंततः वह दूध हमने सईद को दे दिया। वह खुशी-खुशी चला गया। बात यहीं समाप्त हो जानी चाहिए थी, लेकिन जैसा कि रिवाज है, मुसलमान मित्र उस दिन सिवईं बनाते हैं और अपने सब रिश्तेदारों एवं दोस्तों में बाँटते हैं। दोपहर को देखा कि सईद फिर हमारे दरवाजे पर खड़ा है। मैंने पूछा, ''क्या बात है सईद?''

उसने भोलेपन से जवाब दिया, ''सिवईं बनाई थी न, तुम्हारे लिए लाया हूँ।''

मेरे चाचा पास ही खड़े थे। वे मुस्कराए। बोले, ''तुम्हारे घर की सिवईं क्या हम खा सकते हैं? किसने दी हैं?''

माँ भी वहीं खड़ी थी। वह समझ गई। बोली, ''बेटे, हम लोग तुम्हारी पकाई हुई सिवईं नहीं खा सकते। तुम बहुत अच्छे हो। इन्हें वापस ले जाओ।''

सईद की समझ में कुछ नहीं आया। वह कभी मेरी ओर देखता, कभी मेरी माँ की ओर। माँ ने उसे फिर प्यार से समझाया। अनबूझ-सा वह जाने के लिए मुड़ा, लेकिन न जाने क्या हुआ, कटोरा उसके हाथ से वहीं गिर पड़ा और सिवईं चारों ओर बिखर गई।

हठात् मैंने सईद की ओर देखा। मुझे लगा वह सिवईं नहीं, इनसान की मुहब्बत थी, जो मेरे दरवाजे पर पैरों से रौंदी जाने के लिए बिखरी पड़ी थी।

□

पीरीन पियारे पिराणनाथ

वह ग्यारह वर्ष का भी नहीं था, तब की बात है। उत्तर प्रदेश के एक प्रसिद्ध नगर में किसी नातेदार के पास ठहरा हुआ था। सड़क के एक किनारे उनकी बैठक थी। उस पार दुमंजिले पर कोई परिवार रहता था। उस परिवार की केवल एक स्त्री की याद है। कभी-कभी खिड़की से झाँकते देखता था। एक दिन इशारे से उसने उसे ऊपर बुलाया। आज उसकी जो मूर्ति उसके मस्तिष्क में उभरती है, वह इतनी ही है कि वह स्वस्थ थी। उसके गालों पर निखार था और आँखों में थी चंचलता। बड़े प्यार से उसने कहा, ''एक चिट्‌ठी पढ़ दोगे?''

अब तक झिझक रहा था, लेकिन अपना गुण प्रकट करने का अवसर पाकर वह तुरंत बोला, ''हाँ-हाँ, मुझे पढ़ना आता है।''

वह मुस्कराई और अंदर जाकर एक पत्र ले आई। किसी नारी के कच्चे अक्षरों में, लाइनदार कागज पर, दोनों ओर लिखा हुआ एक पत्र था। उस 'पीरीन पियारे पिराणनाथ' से शुरू होने वाली चिट्‌ठी को पूरा पढ़ जाने के बाद भी उसकी समझ में कुछ नहीं आया। अनबूझ-सा उस स्त्री की ओर देखा, खड़ा रहा। अत्यंत गंभीरता से वह बोली, ''तुम्हारे मकान के बाईं ओरवाले घर में जो लड़की रहती है, उसी ने यह पत्र लिखा है।''

उसने बुद्धिमान् बनने का गौरव झेलते हुए कहा, ''किसको लिखा है?''

वह बोली, ''तुम्हारे मकान के दाईं ओर जो मंदिर है, उसी के पुजारी के लड़के को। लड़की उसे छिपे-छिपे प्यार करती है। दोनों बड़े···।''

उसने और क्या-क्या कहा, उस बालक को ठीक याद नहीं है; पर कहकर वह एकटक इस तरह उसकी ओर देखने लगी थी जैसे कोई गहन रहस्य प्रकट कर रही हो और उस पत्र पर उसकी प्रतिक्रिया जानने को अतिशय उत्सुक हो। किंतु

वह निपट अबोध गूँगा खड़ा ही रहा और वह धीरे-धीरे बोलती रही, बोलती रही। फिर एकाएक रुककर बोली, "कुछ खाओगे?"

वह एक कटोरे में कुछ ले आई। उसे अपने पास खींचकर पुचकारा भी। पर उसने खाया या नहीं खाया, यह याद नहीं। महत्त्वपूर्ण भी नहीं। लेकिन आज भी, लगभग ६० वर्ष बाद, वह चेहरा उसके मस्तिष्क में उसी तरह अंकित है। भरा हुआ मुख, गदराए कपोल, बड़ी-बड़ी चंचल आँखें और रहस्यमय आत्मीयता से पूर्ण गहन-गंभीर वाणी! उस मूढ़ और गूँगे बालक को प्रेम का रहस्य समझाती हुई वह नारी या तो अत्यंत भोली थी या अत्यंत प्यासी।

□

जाति या जान

चकरौता के नीचे एक सुंदर प्रपात है। अपने एक साथी के साथ वह एक तड़के उसे देखने चला। पहुँचने में कोई कठिनाई नहीं हुई। वह स्थान इतना सुंदर था कि वहाँ से हटने को मन नहीं करता था। चारों ओर हरियाली, पृष्ठभूमि में पर्वत-श्रृंखला, कई स्थानों से नीचे आता हुआ प्रपात का फेनिल जल और उससे अठखेलियाँ करतीं प्रभात की किरणें। रजत-स्वर्णिम इस मृगजाल पर नेत्र जैसे ठिठक-ठिठक जाते थे। जी भरकर घूमा, स्नान किया। जहाँ खतरा था, वहीं उत्फुल्ल सौंदर्य पाया। प्राण पुलक उठे, लेकिन देखते-देखते सूर्य मध्य रेखा के बहुत पास पहुँच गया। तब लौटने का होश आया। आते समय जो गहरी ढलान थी, वही अब प्राण-लेवा चढ़ाई में बदल गई। कुछ क्षण वह चौकड़ी भरता रहा। फिर साँस फूलने लगी। पैरों ने जवाब दे दिया। स्फूर्ति थकान में बदल गई। जैसे ही एक चढ़ान पूरी होती, दूसरी सिर ऊँचा किए सामने आ खड़ी होती। किसी तरह उसे पार करते तो तीसरी, चौथी, पाँचवीं सिर उठाती चली जातीं। मध्य तक पहुँचते-पहुँचते शरीर ने जवाब दे दिया। पहाड़ी तीव्र धूप के कारण भयंकर प्यास लग आई, लेकिन आस-पास बस चढ़ाई थी और कुछ नहीं था। प्रपात का स्वर भी सो चुका था और चकरौता की बस्ती कहीं आकाश के पीछे छिपी थी। संकट में साहस सघन हो उठता है। कुछ और आगे बढ़ा। दूर एक खेत में एक कुटिया नजर आई और अनायास ही पैर उधर मुड़ गए। पास पहुँचते-पहुँचते साँस फूल चुकी थी। किसी तरह चट्टान का सहारा लेकर वह रुका और शरीर का समस्त जोर लगाकर पुकारा—"कोई है?"

कई क्षण बाद कुटिया में से एक युवक बाहर आया। सिर पर मुँडासा बाँधे हुए था। मोटा कुरता और ऊँची धोती बता रहे थे कि यह किसान है। लेकिन मूँछों का कटाव उसके मुसलमान होने की घोषणा भी कर रहा था। उसने हाँफते-हाँफते

किसी तरह कहा, ''पानी''।

उस युवक ने उसकी ओर देखा और कहा, ''मैं मुसलमान हूँ।''

वह बोला, ''तो क्या हुआ?''

उसने कहा, ''होता क्या, मैं तुम्हारी जाति नहीं ले सकता। तुम हिंदू हो। अपने रास्ते जाओ।''

प्राण जैसे निकलने को हो रहे थे, पर किसी तरह साहस बटोरकर वह फिर बोला, ''भाई, मैं जाति की बात नहीं कर रहा, जान की कर रहा हूँ। तुम जान तो नहीं लोगे। मुझे पानी दो। नहीं तौ मैं मर जाऊँगा।''

वह युवक मुड़ा। बोला, ''नहीं-नहीं, मैं पानी नहीं दूँगा।''

उसके स्वर में गहरी कड़वाहट थी और वह अपनी झोंपड़ी में जाने के लिए मुड़ गया था। चट्टान के दूसरी ओर फूँस की टूटी हुई एक और झोंपड़ी थी। उसमें शायद बैल बाँधे जाते थे। पुआल बिछा हुआ था। किसी तरह अपने को खींचकर वह वहाँ तक पहुँचा और गिर पड़ा। गिरते-गिरते बोला, ''मैं यहीं पड़ा हूँ। देखता हूँ, तुम जाति लेते हो या जान।''

लेकिन वह अपना वाक्य पूरा कर पाता कि देखता हैं, वह युवक एक हाथ में लोटा लिये वहाँ आ गया है, बोला, ''पहले जरा मुँह धो लो और दो मिनट यहीं लेटे रहो। फिर मैं शरबत ले आता हूँ।''

□

कौन जीता, कौन हारा

वह लेखक था और दक्षिण दिशा की यात्रा कर रहा था। ट्रेन छूटने में काफी देर थी। सहसा किसी ने उसके प्रथम श्रेणी के कक्ष का द्वार खटखटाया। वह मुड़ा, देखा कि एक श्यामवर्ण बंधु धाराप्रवाह अंग्रेजी बोले जा रहे हैं। वह यंत्रवत् उनके पास पहुँचा। वह बंधु कह रहे थे, ''सर! बगल के कक्ष में मेरी पत्नी है। छोटा बच्चा भी है। आप जरा ध्यान रखिएगा। अकेले जा रहे हैं वे।''

लेखक ने जवाब दिया, ''हाँ-हाँ। उनसे कह दीजिए, कोई परेशानी हो तो मुझे बता दें।''

वह बंधु बोले, ''एक बात और है। भोपाल स्टेशन पर एक जरूरी पत्र स्टेशन मास्टर को देना है। आप दे सकेंगे?''

लेखक ने तनिक झिझकते हुए कहा, ''यदि उनका कार्यालय पास ही हुआ तो मैं दे सकूँगा। दूर होने पर तो शायद...।''

एकदम बात काट दी उन बंधु ने, ''जाने दीजिए, जाने दीजिए। आप कष्ट न करें। मैं इस काम के लिए किसी ऐसे व्यक्ति को ढूँढ़ता हूँ, जो भोपाल तक ही जा रहा हो।''

और वह चले गए।

दूसरी बार वह यह सूचना देने आए कि वे अभी तक मनचाहे व्यक्ति को नहीं ढूँढ़ पाए हैं और बहुत परेशान हैं।

गाड़ी रवाना होने में अभी भी कुछ समय शेष था। वह फिर आए, बोले, ''कोई नहीं मिला मुझे। मैं स्वयं ही चल रहा हूँ, पर क्या करूँ टिकट में तेईस रुपए छह आने कम पड़ गए। घर जाने का समय नहीं है। टिकट कलेक्टर ने टिकट बना देना स्वीकार कर लिया है।''

"पैसे चाहते हैं आप?"

"अब कैसे कहूँ आपसे…।"

लेखक यंत्रवत् कक्ष में गया और पच्चीस रुपए लाकर उनके हाथ में थमा दिए। वे बंधु गद्‌गद थे, "आपने मुझे उबार लिया। जन्म भर ऋणी रहूँगा। आप विश्वास रखिए, स्टेशन पर कोई अवश्य मिल जाएगा। उनसे लेकर आपको दे दूँगा।"

वह चले गए तो लेखक मोहाविष्ट की स्थिति से कुछ उबरा। मन ने कहा, 'यह तो पेशेवर था। अब रुपए नहीं मिल सकते।'

'हो सकता है, पर किसी का अविश्वास करने से विश्वास करके ठगा जाना कहीं अच्छा है।'

मन ने मुस्कराकर धीरे से कहा, 'तुम्हारे पास तर्क कुछ कम हो तो मैं दूँ। कहो कि पिछले जन्म का कर्जदार था मैं या यह कि वह अपनी ईमानदारी गिरवी रख गया है मेरे पास या कि अपराध उसका नहीं व्यवस्था का है, जिसने उसे इस स्थिति में पहुँचा दिया है।'

लेखक ने चुप रहने में ही अपना कल्याण समझा। रात गहरी होने लगी। फिर सवेरा हुआ। दूसरी रात भी आई। दूसरा सवेरा भी हुआ। वह मद्रास स्टेशन पर उतरा। यहाँ भी नहीं थे। पास के कक्ष में एक परिवार था, पर उनका नहीं था। विजयी मन ने अब उसे बार-बार धिक्कारा-कचोटा, पर एक बार थोड़ा सा म्लान होने के अतिरिक्त वह मुस्कराता ही रहा।

उसी रात उसने उस घटना को लेकर एक लघुकथा लिखी और 'मधुरांतक' के संपादक को भेज दी। दस दिन बाद स्वीकृति का पत्र आ गया।

तीसरे महीने वह लघुकथा छप गई।

चौथे महीने अच्छा सा पारिश्रमिक भी आ गया।

लेखक ने मुस्कुराकर मन से पूछा, 'अब बताओ—कौन जीता, कौन हारा?'

अनुत्तरित मन जोर से हँसा। वह भी हँसा। मन की हँसी में व्यंग्य था, उसकी हँसी में विजय का दर्प।

व्यंग्य और दर्प, एक स्तर पर दोनों समानार्थी हैं।

□

ना जाने केहि वेश में

वह एक स्थानीय वयस्क के साथ आस-पास के ऐतिहासिक स्थल देखता घूम रहा था। एक दिन कार्ला और भाजा की बौद्ध गुफाएँ देखने, चला गया। बहुत ही सुंदर और सुरम्य स्थान है। लेकिन काफी देर घूमने और उतरने-चढ़ने के कारण वह थक गया। पास ही एक छोटा सा स्टेशन था। जैसा कि होता है, बाहर एक-दो दुकानें भी थीं। एक दुकान पर महाराष्ट्र के कुछ ग्रामीण बैठे हुए थे। दूध गरम हो रहा था। उसने सोचा कि दूध पी लिया जाए, लेकिन जब उसके मित्र ने वहाँ पर काम करनेवाली वयस्क महिला से दूध के लिए कहा, तो उसने स्पष्ट इनकार कर दिया। बोली, "आज हमारे त्योहार का विशेष दिन है, इसलिए दूध बेचना संभव नहीं है।"

यह सुनकर उनके थके प्राण जैसे और भी थक गए हों। चुपचाप बाहर निकल आए; लेकिन जैसे ही रास्ते पर पहुँचे उस वयस्क महिला ने पुकारा, "आइए, आइए, कितना दूध चाहिए। आपको? यहाँ बैठिए।"

वह हतप्रभ रह गया। मित्र मुस्कराए, लेकिन यह सब क्या था, वह समझ नहीं सका। दूध पी लेने के बाद जब वे फिर बाहर आए तो उसने पूछा, "आखिर यह क्या हुआ?"

मित्र बोले, "उन ग्रामीण सज्जनों में जो एक वृद्ध सज्जन, वहाँ उस कोने में बैठे हैं—जब हम निराश होकर बाहर लौट रहे थे तब उन्होंने तुलसीदास का यह दोहा पढ़ा—

> तुलसी इस संसार में सबसे मिलिए धाय।
> ना जाने केहि वेश में नारायण मिल जाय॥

यह सुनकर वह महिला व्याकुल हो उठी और हमें पुकार लिया।

सहसा दृष्टि घुमाकर उसने उस ओर देखा। वह वृद्ध ग्रामीण शांत भाव से उसी तरह बैठा हुआ था। □

सबसे तेज गति : मन की

कई वर्ष पुरानी बात है, मैं आबू गया था। साथ में मेरी छोटी बच्ची थी। अवस्था होगी लगभग पाँच वर्ष। माँ से अलग रहने का उसका पहला अवसर था। किसी तरह की कोई परेशानी इस कारण हुई हो, याद नहीं पड़ता। मेरे साथ खूब घूमती थी। पहाड़ पर चढ़ना, बहुत सी पौड़ियाँ उतरकर नीचे जाना, झील में नहाना, यह सब उसे बहुत प्रिय था। कभी थकी नहीं, कभी शिकायत नहीं की लेकिन एक दिन सोकर उठी तो अचानक रोना शुरू कर दिया। हमारे आतिथेय की लड़की उसे बहुत स्नेह करती थी। अपने पास ही सुलाती थी। उसने उसे बहुत मनाया, समझाया; लेकिन किसी भी तरह वह बच्ची चुप नहीं हुई। तब उसे लेकर मेरे पास आई। मैंने भी बड़े प्यार से उसे शांत करना चाहा, लेकिन उसका रोना बंद नहीं हुआ।

सहसा मैं खीझ उठा और उसे डाँटने लगा। कुछ क्षण बाद जैसे सहमकर वह चुप हो गई, लेकिन मेरी यह डाँट मेरे आतिथेय की कन्या को तनिक भी अच्छी नहीं लगी। स्वयं मुझे भी दुःख हुआ, इसलिए संध्या के समय पश्चात्ताप से दग्ध मैं उसे अकेले झरनों के पास ले गया।

झरनों के समीप प्रकाश की कुछ इस प्रकार व्यवस्था थी कि वे नाना रूप-रंग के दिखाई देते थे, मानो परीलोक में पहुँच गए हों। स्वाभाविक रूप से बच्चों को वे दृश्य बहुत प्रिय थे। मेरी बच्ची भी गद्‌गद होकर उन्हें देखती रही। फिर सहसा मुझसे बोली, ''पिताजी, पानी बहुत तेज चलता है न?''

मैंने कहा, ''हाँ, पानी बहुत तेज चलता है, लेकिन पानी से भी तेज चलनेवाली वस्तुएँ हैं, जैसे आवाज।''

उसकी उत्सुकता जागी। बोली, ''आवाज से तेज क्या चलता है?''

मैंने उत्तर दिया, ''प्रकाश आवाज से भी तेज चलता है।''

वह और भी उत्सुक हुई। बोली, ''प्रकाश से तेज?''

मैने कहा, ''सबसे तेज तो मन चलता है, जैसे हम यहाँ सैकड़ों मील दूर बैठे हुए तुम्हारी अम्मा को याद करें तो हमारा मन इसी क्षण वहाँ पहुँच जाएगा।''

सहसा जैसे उसके नेत्र चमक उठे। उत्फुल्ल होकर बोली, ''पिताजी, सवेरे मेरे साथ यही तो हुआ था। मुझे अम्मा की याद आई और मेरा मन वहाँ पहुँच गया, लेकिन मैं नहीं पहुँच सकी, इसलिए रोना आ गया।''

मैं जैसे हिल उठा। दो क्षण स्तब्ध-सा बच्ची की ओर देखता रहा, फिर गद्गद होकर उसे वक्ष से चिपका लिया।

□

अयाचित सुख

मौखिक परीक्षक उन बंधु को नहीं पहचानते थे। करबद्ध वे कह रहे थे, "एक प्रार्थना सुनेंगे मेरी।"

परीक्षक महोदय ने पूछा, "आप परीक्षार्थी हैं ?"

"जी मैं नहीं, मेरी छोटी बहन है। उसी के संबंध में एक प्रार्थना है। उसका विवाह इसी परीक्षा के परिणाम पर निर्भर करता है। सफल न हो सकी तो···।"

परीक्षक पहले हतप्रभ हुए, फिर मुस्कराए, बोले, "ठीक है, ठीक है, आने दीजिए उसे। आप जाइए।"

लेकिन उसके बाद भी वे यंत्रवत् बोलते रहे। परीक्षक महोदय ने एक बार फिर विश्वास दिलाया, तब जा सके।

विश्वास दिलाना जितना सहज था, निभाना उतना ही कठिन; क्योंकि उन बंधु की बहन पर रूप जितना रीझा था, बुद्धि उतनी ही विमुख थी। सौ में से बीस अंक भी न पा सकी वह। बहुत ऊहापोह के बाद उसने सभी परीक्षार्थियों को बीस-बीस अनुग्रहांक देने का निश्चय किया। फिर भी उस युवती को सफलता के लिए पंद्रह अंक और अपेक्षित थे।

उनके लिए उतना उदार होना किसी भी तरह संभव न हो सका। उतने पतित वे न हो सकेंगे कि सौदा करें, इसलिए उन्होंने मुहर लगाकर सबकुछ सील कर दिया।

लौटते समय उन बंधु ने, बहन सहित, अत्यंत नम्रता से उन्हें प्रणाम किया। कई दिन तक उस सौम्य युवती की छवि उनके मस्तिष्क में कौंधती रही। फिर सबकुछ धुल-पुँछ गया।

कई माह बीत गए। एक दिन परीक्षक महोदय अध्ययन में डूबे थे कि द्वार पर आहट हुई। देखा वे बंधु, नतमस्तक, मुख पर कृतज्ञ मुस्कान और हाथों में

मिष्टान्न का डिब्बा लिये खड़े हैं।

"आइए," परीक्षक महोदय ने कहा।

अंदर आकर उन युवक ने उनके चरण छुए। बोले, "आपको किन शब्दों में धन्यवाद दूँ। मेरी बहन बहुत अच्छे अंक पाकर सफल हुई है। आज के दिन उसका लग्न-बंधन है। आप सादर-साग्रह आमंत्रित हैं। आपका एहसान मैं सात जन्म न भूल सकूँगा।"

जितनी देर वह बोलते रहे, परीक्षक महोदय हतप्रभ सोचते रहे—यह कैसे हुआ, क्या हुआ, किसने किया? कितना मूल्य चुकाना पड़ा होगा शेष अंक पाने के लिए? क्या मैं चुनौती दूँ?

लेकिन वह चुनौती न दे सके। प्रत्यक्ष वेदना के पीछे कहीं एक सुख भी था, जो उन्हें आलोड़ित कर रहा था।

□

पूज्य पिताजी

अपने में डूबा-डूबा वह घर की ओर लौट रहा था कि सहसा उसने अनुभव किया कि गलबहियाँ डाले दो मस्त किशोर आवाजें कसते उसके पास से होकर आगे बढ़ गए हैं।

उसने दृष्टि उठाई। आश्चर्य! वे एक लड़की की राह रोकने की चेष्टा कर रहे थे। लड़की कभी बाएँ बचती, कभी दाएँ; पर वे तुरंत आगे आ जाते। आखिर झुँझला पड़ी वह, "बदतमीज कहीं के, हटो आगे से।"

वे किशोर खिलखिलाए, बोले, "जानेमन, रास्ता किसी की जागीर नहीं है।"

तब तक उसने स्थिति से निबटने का निर्णय कर लिया था। वहीं से चीखकर उसने कहा, "ऐ लड़को, तुमको शर्म नहीं आती। भागो यहाँ से, आवारा कहीं के!"

किशोरों ने तनिक भी प्रभावित हुए बिना उसकी ओर देखा, मुस्कराए, बोले, "पूज्य पिताजी हैं। जाइए, जाइए, नहीं तो छुरा भोंक देंगे।"

वह तमतमा आया और तेजी से उनकी ओर बढ़ा, लेकिन किशोरों ने उसकी ओर देखा तक नहीं। लड़की को ही लक्ष्य करके बोले, "जानी! हम तो राह में आँखें बिछा रहे हैं, पर तू तो भागी जा रही है। तेरी मरजी।"

और यह कहकर वे मुड़े, बोले, "अब चलो यार, अपना काम हो गया।"

वह देश के भविष्य के इस अध:पतन पर कुढ़ता हुआ घर लौट आया। कपड़े बदले, फिर हाथ-मुँह धोने के लिए गुसलखाने पहुँचा। सामने की खिड़की खुली हुई थी। उस पार के मकानों को वह अच्छी तरह देख सकता था कि एक नवयौवना ऊपर की छत पर आई। सद्य:विवाहिता थी शायद। रूप-सज्जा ने यौवन को अद्‌भुत रूप से निखार दिया था।

एक क्षण में जैसे किसी ने जादू कर दिया हो। उसने पाया कि उसकी समस्त चेतना उस युवती के शरीर की परिक्रमा कर रही है और बाँहें कसमसा रही हैं।

तभी न जाने क्या हुआ—एक किशोर खिलखिलाहट कहीं से आकर उसकी छाती में भर उठी। किसी ने पुकारा, ''पूज्य पिताजी।''

वह सहम-सिहर आया, ''कौन है ?''

वही मौन-मस्त स्वर जैसे कानों में फुसफुसा गया, ''पूज्य पिताजी, दूर से छिपकर नहीं, पास जाकर देखिए न। वह लड़की भी ऐसी ही जालिम थी। आपने भगा दिया उसे, लेकिन हम···।''

उसने तिलमिलाकर कहना चाहा, ''भाग जाओ यहाँ से गुंडो···''

''गुंडे! कौन ? हम कि आप ?'' वे खिलखिलाए।

और वह खिलखिलाहट जैसे तन-बदन में काँटा बनकर समा गई। उसने तेजी से खिड़की बंद की और उससे भी दोगुनी तेजी से पैरों पर पानी डालने लगा।

लेकिन काँटों की कसक पानी डालने से थोड़े ही मिटती है।

□

मेरा यक्ष

सुना था, वह पहुँचे हुए महात्मा हैं।

उन्हें गंगोतरी में रहते एक युग बीत गया था। वहीं उनके आश्रम में मैंने उनसे प्रश्न किया, ''महात्माजी, इस शाश्वत हिम प्रदेश में देव-योनि यक्ष को देखा है कभी आपने?''

महात्माजी बोले, ''देखा है वत्स, कई बार उनके दर्शन करने का सौभाग्य पाया। एक बार हम और ऊपर तपोबन गए थे। बहुत पवित्र स्थान है। वहाँ पहुँचकर मन गद्गद हो आया। क्षण भर में थकावट दूर हो गई। भोजन साथ में था, लेकिन जब खाने बैठे तो पाया कि साग में नमक नहीं है। क्या करें कि तभी देखा, एक चरवाहा चला आ रहा है। कुछ लोग इधर भटक जाते हैं। विशेष आश्चर्य नहीं हुआ। वह पास आकर बोला, ''महात्माजी, यदि आपके पास साग हो तो मुझे भी देने की कृपा करें।''

हमने कहा, ''साग तो बहुत है, पर उसमें नमक नहीं है।''

चरवाहा तुरंत बोला, ''नमक मेरे पास बहुत है, यह लीजिए।''

''उसने हमें नमक दिया, हमने उसे साग दिया; लेकिन साग लेते ही वह उस निर्जन हिम प्रदेश में ऐसा गायब हुआ कि दूर-दूर तक उसकी छाया भी नहीं देख सके हम। भेड़-बकरी के होने का तो प्रश्न ही नहीं था। अब बताइए, वह यक्ष नहीं तो और कौन था?''

इस वैज्ञानिक युग में मैं इस कथा पर विश्वास नहीं कर पा रहा था, लेकिन विवाद करने का भी कोई अर्थ नहीं था। प्रणाम करके लौट आया। दूसरे दिन नीचे उतरना था। चलने से पहले हमारे पूर्व परिचित महेंद्र भाई ने बड़े प्यार से पूरी और आलू का साग हमारे लिए तैयार कर दिया।

हम लोग नौ मील के दुर्गम पथ को पार करके घराली के पास गंगा तट पर

रुके और रेत के अनंत विस्तार पर डेरा डाल दिया। भोजन साथ में था, लेकिन जब खाने बैठे तो पाया साग में नमक नहीं है। इधर-उधर दृष्टि घुमाई। बहुत लोग थे आस-पास, पर यक्ष उनमें कोई नहीं था। महेंद्र ने हमें कैसा धोखा दिया… !

यह सोच भी नहीं पाए थे कि तेजी से एक व्यक्ति हमारी ओर आता हुआ दिखाई दिया। पास आने पर बोला, ''क्या आप लोग गंगोतरी से वापस लौट रहे हैं? क्या आप लोगों के लिए ही महेंद्र ने पूरियाँ तैयार की थीं?''

मैंने कहा, ''हाँ-हाँ, क्या बात है?''

वह पहाड़ी बंधु विनम्र स्वर में बोला, ''साहब, सवेरे महेंद्र साग में नमक डालना भूल गया। उसे बहुत अफसोस है। माफी माँगी है और यह नमक भेजा है।''

स्तब्ध-विमुग्ध मैं उस मानव-यक्ष की ओर देखता ही रह गया, उसपर अविश्वास करने का साहस मुझमें नहीं था।

□

अतिरिक्त लाभ और उदारता

इप्टा का दस दिन का उत्सव समाप्त हो चुका था। उसकी सफलता पर सभी गद्गद थे, लेकिन हिसाब बता रहा था कि ग्यारह हजार का घाटा है। जो सबसे बड़े ठेकेदार थे, सात हजार केवल उन्हीं के देने थे। कानून उन्हें इजाजत देता था कि वह स्वागत समिति के किसी भी सदस्य पर दावा करके यह राशि वसूल कर सकते हैं। न हो वसूली, जेल-यात्रा तो हो ही सकती थी।

स्वागत समिति के मंत्री और कोषाध्यक्ष विशेष रूप से चिंतित थे। सम्मेलन के बाद चंदा वसूल करना नितांत असंभव था। कैसे होगा भुगतान? कैसे मुक्ति मिलेगी जेल-यात्रा से?

परेशानी के इन्हीं क्षणों में ठेकेदार साहब कोषाध्यक्ष के पास आए, बोले, ''आप पर मेरे सात हजार रुपए बाकी हैं।''

''जी हाँ, हैं तो,'' कोषाध्यक्ष कुछ घबराकर बोले।

''उन्हें लेकर आप परेशान न हों। चंदा हो जाए तो मेरे बिलों का भुगतान कर दीजिए। न हो सके तो भूल जाइए।''

कोषाध्यक्ष महोदय ठगे-से उनकी ओर देखते ही रह गए, कुछ समझ न पाए, लेकिन वह कहते रहे, ''कांग्रेस पार्टी प्रतिवर्ष मेरे लाखों रुपए दबा लेती है; अगर कम्युनिस्ट पार्टी से संबंध रखनेवाले एक बार मेरे कुछ हजार दबा लेंगे तो मैं कंगाल नहीं हो जाऊँगा। मेरा वास्तविक लाभ मुझे मिल चुका है, यह तो अतिरिक्त लाभ था।''

अविश्वास और अचरज से एक क्षण तो कोषाध्यक्ष महोदय अप्रतिभ हुए लेकन दूसरे ही क्षण भार-मुक्ति के एहसास ने उन्हें पुलकित कर दिया। ठेकेदार साहब उनकी दृष्टि में बहुत ऊँचे उठ गए। यद्यपि उन्होंने अपनी जेब से कुछ नहीं दिया था फिर भी उस अतिरिक्त लाभ पर से अपना कानूनी अधिकार छोड़ देने की उदारता दिखाना, क्या कम साहस का काम था? □

खोना और पाना

उस दिन उनके घर में हर्षोल्लास का माहौल था। उन्होंने गत वर्ष जो मकान खरीदा था, उसको तोड़ने पर दीवारों में से अपार अनर्जित संपदा उन्हें प्राप्त हुई थी।

उस मकान का पूर्वकालिक स्वामी, कभी जिसके ऐश्वर्य और विलास की सीमा नहीं थी, सरकारी अस्तपाल के छोटे से कमरे में पड़ा था। वह अभी-अभी मृत्यु के मुँह से लौटा था। सभी मित्र-परिजन, यहाँ तक कि उसके पुत्र भी, उसे छोड़ गए थे। केवल उसकी पत्नी किसी स्कूल में पढ़ाकर, किसी तरह उसकी देखभाल कर रही थी। घर लौटते समय उसने अपार संपदा पाए जाने का यह समाचार सुना और पति से कहा, ''काश! दीवारों में संपदा छिपी है—यह बात हम जान पाते।''

पति ने धीरे से कहा, ''अच्छा हुआ, जो मैं न जान पाया। मैं अब जान पाया हूँ कि मैंने मकान बेचकर सुख पाया है। उसने मकान खरीदकर सुख खोया है। पसीना बहाकर जो तुम कमाकर लाती हो, उसी ने मुझे जीवन दिया है। इससे बड़ा ऐश्वर्य कुछ हो सकता है, मैं नहीं जानता।''

मंद-मंद मुस्कराते हुए पत्नी ने पति की आँखों में झाँका और उनका माथा सहलाते हुए प्यार भरे स्वर में कहा, ''मैं यही सुनना चाहती थी।''

□

शैशव की ज्यामिति–तीन कोण

माँ समझा–समझाकर परेशान हो गई। उसके चार वर्षीय बेटे टिंकू की शरारतों का अंत नहीं था। संध्या को पिता लौटे तो उसने बेटे की शरारतों की कहानी सुनाते हुए कहा, ''हमारा बेटा बिगड़ता जा रहा है, उसे सँभालिए।''

किसी कारणवश पिता उस समय स्वयं बहुत त्रस्त थे। पत्नी की शिकायत सुनकर वे एकाएक क्रोध से उबल उठे। आव देखा न ताव, तड़ से एक थप्पड़ टिंकू के गाल पर जड़ दिया, ''बदतमीज, दिन–पर–दिन बिगड़ता जा रहा है।''

टिंकू एकदम जोर से चीख उठा, लेकिन तभी सहसा उसकी दृष्टि पापा के हाथ पर गई। पाया कि उसमें चोट लगी है और जोर से थप्पड़ मारने के कारण उसमें से खून रिसने लगा है। तब रोते–रोते वह एकाएक बोल उठा, ''पापा, आप मुझे थप्पड़ न मारें। डंडे से मारें।''

बच्चे शरारती होते हैं, पर अंशु कुछ अधिक ही उत्पाती था। कभी तो उसका उत्पात सीमा लाँघ जाता। उसके मम्मी–पापा उसे खूब प्यार करते थे, पर जब उसकी शरारतें थमती ही नहीं थीं तो वे उसे पीट भी देते थे।

ऐसे ही अवसर पर एक दिन उसके पापा ने उसके गाल पर जोर से दो थप्पड़ जड़ दिए। एक बार तो अंशु सहम गया, लेकिन दूसरे ही क्षण गाल पर हाथ रखे रोते–रोते उसने कहर भरी दृष्टि से पापा की ओर देखा और कहा, ''प्यार भी करते हो, मारते भी हो। हम नहीं बोलेंगे तुमसे। कुट्टी! कुट्टी!''

और वह भागा–भागा कमरे से बाहर निकल गया।

मंटू अपनी दादी का बहुत प्यारा था, इसलिए मरते समय वे विशेष रूप से मंटू के पिता से कह गई थीं, ''बच्चों को डाँटना मत। प्यार से रखना।''

मंटू के पिता स्वयं भी मंटू को कम प्यार नहीं करते, परंतु जब मंटू की

शरारतें सीमा लाँघ जाती हैं तो वे विवश होकर खंग-हस्त हो उठते हैं। ऐसे ही एक दिन जब बहुत समझाने पर भी मंटू ने शरारत करना बंद नहीं किया तो उन्होंने खीझकर उसके गाल पर तड़ाक-तड़ाक दो तमाचे जड़ दिए।

मंटू तड़प उठा, पर दूसरे ही क्षण उसने आग्नेय नेत्रों से पिता की ओर देखा और चीखकर कहा, ''भगवान् के पास जाते हुए अम्मा कह गई थीं—बच्चों को डाँटना मत, प्यार से रखना—और आप मुझे इतने जोर से मारते हैं। मैं अम्मा के पास चला जाऊँगा।''

और वह चीख-चीखकर रो उठा।

□

वह शरारत

बात तब की है, जब वह गाँव के एक स्कूल में तीसरी कक्षा में पढ़ता था। वे तीन मित्र थे, जो बारी-बारी से क्लास मॉनीटर बनते थे और परीक्षा में प्रथम आते थे। उस वर्ष उसकी बारी थी। उसके एक मित्र के पिता ज्योतिषी थे। उसका हाथ देखकर उन्होंने बताया, ''बेटे, इस बार तुम्हारे फेल हो जाने का योग है। तुम्हें प्रतिदिन देवी की पूजा करनी चाहिए। जलेबी चढ़ानी चाहिए।''

कहाँ तो प्रथम आने की आशा और कहाँ फेल होने की भविष्यवाणी! उसका बालक-मन घबरा गया और अपने संस्कारों के अनुसार वह प्रतिदिन देवी की पूजा करने लगा। जलेबी भी चढ़ाता था और देखता था कि कुछ देर बाद पुजारी का लड़का उन्हें उठा ले जाता है और खा जाता है। एक दिन, दो दिन, आखिर उसका बाल-मन ताजा-ताजा जलेबियों के स्वाद की उपेक्षा नहीं कर सका। एक ओर स्वाद का वह लालच, दूसरी ओर फेल होने का भय—अजीब स्थिति थी उसकी।

लेकिन धीरे-धीरे लालच भय के ऊपर हावी हो गया और उसने निश्चय किया कि वह पुजारी का बेटा उसकी जलेबी क्यों खाए? जब देवी माता उसको कुछ नहीं कहतीं तो उसे ही क्यों कुछ कहेंगी? उनको अर्पित कर देने के बाद उनकी आज्ञा से खा लेने का अधिकार जितना पुजारी के बेटे को है, उतना ही उसे है और उनकी आज्ञा लेने के लिए उसे बस उनसे कहना ही तो होगा। पुजारी का बेटा तो इतना भी नहीं करता।

बस एक दिन देवी की मूर्ति के सामने जलेबी रखने के बाद वह कई क्षण वहीं रुका रहा, फिर हाथ जोड़कर कहा, ''हे देवी माता, क्या मैं ये जलेबियाँ खा सकता हूँ?''

देवी माता तो कभी बोलती नहीं। उसने उनके बोलने की राह भी नहीं देखी। उनके मुस्कराते हुए मुख की ओर देखते हुए उसने जलेबियाँ उठा लीं और भी जो प्रसाद वहाँ था, वह भी उठा लिया और तेजी से जंगल की ओर भाग चला। पीछे मुड़कर देखता जाता था कि कहीं देवी आ तो नहीं रहीं। उनका शेर तो कहीं उसका पीछा नहीं कर रहा, लेकिन कहीं भी कुछ नहीं था। धीरे-धीरे वह सब प्रसाद खा गया। उस दिन बड़ा मजा आया।

उस रात वह बार-बार चौंक कर उठा, लेकिन हुआ कहीं कुछ नहीं। अब तो उसका साहस बढ़ गया। वह प्रतिदिन जलेबी चढ़ाता और फिर सबकुछ उठा कर खा जाता। सबकुछ नहीं, थोड़ा पुजारी के बेटे के लिए भी छोड़ देता था, जिससे उसे शंका न हो। उसे याद नहीं कि यह क्रम कब तक चलता रहा, लेकिन इतना अवश्य याद है कि वह अपनी कक्षा में नियमानुसार प्रथम ही आया था।

□

पाप की कमाई

वह छोटा सा स्टेशन था। गाड़ी वहाँ कभी पाँच मिनट से अधिक नहीं ठहरती थी। उस दिन सुदीप ने देखा कि एक घंटा बीत जाने पर भी गाड़ी के चलने की कोई संभावना नहीं दिखाई दे रही थी। जितने मुँह उतने ही कारण वातावरण में गूँज रहे थे। आखिर उसने एक कर्मचारी को पकड़ा। पूछा, ''क्यों भाई, गाड़ी क्यों नहीं छूट रही है?''

''इसका ड्राइवर भाग गया है।''

सुदीप स्तब्ध-सा बोला, ''ड्राइवर भाग गया, तब?''

''नए ड्राइवर की तलाश कर रहे हैं।''

''कब तक मिलने की आशा है?''

''दो घंटे में मिल सकता है और दो दिन भी लग सकते हैं।''

कर्मचारी तलाश में आगे बढ़ गया। सुदीप का मन एक अज्ञात भय से त्रस्त हो गया। दूसरे यात्री गिरोहों में बँटकर इस मुद्दे पर बहस करने लगे और मूँगफलियाँ खाने लगे।

लेकिन उनका भाग्य अच्छा था। दो घंटे बीतते-न-बीतते नया ड्राइवर मिल गया। गाड़ी ने सीटी बजाकर आगे बढ़ने की सूचना दी।

यात्री दौड़कर अपने-अपने डिब्बों में चढ़ने लगे। सुदीप के डिब्बे में भीड़-ही-भीड़ थी जिससे सबको बैठने की जगह भी नहीं मिली। वह कुछ सोच पाता कि टिकट कलेक्टर नाटकीय मुद्रा में हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। बोला, ''हुजूर, माई-बाप! देश आपका, सरकार आपकी, रेल आपकी और मैं भी आपका। मैं जानता हूँ, आप में से अधिकांश के पास टिकट नहीं है। प्रार्थना है कि टिकट के पैसे देने का कष्ट करें। जो देगा, उसका मैं रसीद दूँगा। जो नहीं देगा, उसको नहीं दूँगा। जो देगा उसका भला, जो न देगा उसका भी भला।''

उसका भाषण सुनकर यात्री खूब हँसे। एक ने हँसते-हँसते उसे टिकट के पैसे दे दिए। शेष हँसते ही रहे। उसने पैसों की रसीद काटकर उस एकमात्र भले यात्री को दे दी और सबको प्रणाम करके वहाँ से जाने का उपक्रम करने लगा। सुदीप ने उसे रोका, पूछा, "यह कैसा नाटक है?"

टिकट कलेक्टर ने बड़ी गंभीरता से कहा, "यह नाटक नहीं है भाई साहब, यथार्थ है। मैं अकेला हूँ और ये बीस हैं। मैं कुछ करूँगा तो ये मुझे मारकर नीचे फेंक देंगे। तब मेरे परिवार के ग्यारह प्राणियों की रक्षा कौन करेगा? सरकार मेरी लाश की बोली दस हजार लगा सकती है, उससे क्या मैं लौट आऊँगा?"

वह एक क्षण रुका। फिर बोला, "वह देखिए, क्या लिखा है उस दीवार पर।"

मैंने इंगित दिशा की ओर देखा। लिखा था—बीस व्यक्तियों के बैठने के लिए। वह बोला, "और बैठे कितने हैं?"

"तीस-बत्तीस तो होंगे ही।"

उसने मुख्य न्यायाधीश की मुद्रा में पूछा, "नियम के अनुसार सरकार को बीस व्यक्तियों का किराया लेने का अधिकार है। उससे अधिक का नहीं। लेती है तो क्या वह पाप की कमाई न होगी। कष्ट अगर होता है तो यात्रियों को होता है। सरकार का कर्तव्य उनके कष्ट दूर करना है, न कि किराया वसूल करना...।"

वह बोले जा रहा था और सुदीप एक बार फिर स्तब्ध वहाँ पहुँच गया जहाँ किसी को अपनी खबर भी नहीं रहती। जब जागा तो टिकट बाबू जा चुका था और यात्री किसी स्टेशन के आने का आभास पाकर द्वार पर पहुँच गए थे कि गाड़ी की रफ्तार कम हो और वे कूदना शुरू करें।

□

आपकी कृपा है

वे मोटा खद्दर पहनते थे और नियम से रामायण का पाठ करते थे। उनका स्वर काफी मीठा था। उसपर जोर-जोर से बोलते थे। मैं उनका एक दीवार का पड़ोसी था। उन दिनों परीक्षा देने के लिए एक मित्र मेरे पास ठहरे थे। उनके पाठ से पढ़ने में असुविधा होती थी। मैंने उनसे प्रार्थना की कि वह कुछ दिन धीरे-धीरे पाठ किया करें। सुनते ही वह उत्तेजित हो उठे और क्रुद्ध होकर बोले, ''तुमको रामायण के पाठ से कष्ट होता है। रामायण का पाठ सुनकर तो लोग परीक्षाओं में वैसे ही पास हो जाते हैं और तुम हो कि पढ़ने में मन नहीं लगा पाते। तुम्हारा पतन हो गया है। तुम आचरणहीन हो। देश की दुर्दशा तुम्हारे जैसे व्यक्तियों के कारण है।''

यह युद्ध के लिए चुनौती थी। घमासान वाक्-युद्ध के बाद जब वे लौटे तो मैंने निश्चय किया कि कल ही मकान छोड़ दूँगा। लेकिन सवेरे क्या देखता हूँ कि वे बहुत ही शांत स्वर में रामायण का पाठ कर रहे हैं। दूसरे दिन मैं उनका स्वर नहीं सुन सका। चकित-सा मैं कुछ सोच पाता कि वह मेरे पास आकर बोले, ''अब तो ठीक है भाई। तुम्हें कोई कष्ट तो नहीं। पाठ ही तो करना है, मन-ही-मन कर लेता हूँ। राम तो उससे भी प्रसन्न होंगे। वे तो भाव के भूखे हैं।''

मैं उनकी ओर देखता रह गया। कहने को कुछ था ही नहीं। हाथ जोड़कर इतना ही बोला, ''आपकी कृपा है पंडितजी।''

□

पानी की जाति

बी. ए. की परीक्षा देने वह लाहौर गया था। उन दिनों स्वास्थ्य बहुत खराब था। सोचा प्रसिद्ध डॉ. विश्वनाथ से मिलता चलूँ। कृष्णनगर से वे बहुत दूर रहते थे। सितंबर का महीना था और मलेरिया उन दिनों यौवन पर था। वह भी उसके मोह-चक्र में फँस गया। जिस दिन डॉ. विश्वनाथ से मिलना था, ज्वर काफी तेज था। स्वभाव के अनुसार वह पैदल ही चल पड़ा, लेकिन मार्ग में तबीयत इतनी बिगड़ी कि चलना ही दूभर हो गया। प्यास के कारण प्राण कंठ को आने लगे। आस-पास देखा, मुसलमानों की बस्ती थी। कुछ दूर और चला, परंतु अब आगे बढ़ने का अर्थ खतरनाक हो सकता था। साहस करके वह एक छोटी सी दुकान में घुस गया। गांधी टोपी और धोती पहने हुए था। दुकान के मुसलमान मालिक ने उसकी ओर देखा और तल्खी से पूछा, "क्या बात है?"

जवाब देने से पहले वह बेंच पर लेट गया। बोला, "मुझे बुखार चढ़ा है, बड़े जोर की प्यास लग रही है। पानी या सोडा, जो कुछ भी हो, जल्दी लाओ।"

मुसलिम युवक ने उसे तल्खी से जवाब दिया, "हम मुसलमान हैं।"

वह चिनचिनाकर बोल उठा, "तो मैं क्या करूँ?"

वह मुसलिम युवक चौंका। बोला, "क्या तुम हिंदू नहीं हो? हमारे हाथ का पानी पी सकोगे?"

उसने उत्तर दिया, "हिंदू के भाई, मेरी जान निकल रही है। तुम जाति की बात करते हो। जो कुछ हो, लाओ।"

युवक ने एक बार फिर उसकी ओर देखा और अंदर जाकर सोडे की एक बोतल ले आया। वह पागलों की तरह उसपर झपटा और पीने लगा; लेकिन इससे पहले कि पूरी बोतल पी सकता, उसे उलटी हो गई और छोटी सी दुकान गंदगी से भर गई। लेकिन उस युवक का बरताव अब एकदम बदल गया था। उसने उसका

मुँह पोंछा, सहारा दिया और बोला, ''कोई डर नहीं। अब तबीयत कुछ हलकी हो जाएगी। दो-चार मिनट इसी तरह लेटे रहो। मैं शिकंजी बना लाता हूँ।''

उसका मन शांत हो चुका था और वह यह सोच रहा था कि यह पानी, जो वह पी चुका है, क्या सचमुच मुसलमान था?

□

रोटी या पाप

उगते सूरज की किरणें अभी समंदर की इठलाती लहरों को चूम भी नहीं पाई थीं कि फुटपाथ पर बैठे भिखमंगों में आपाधापी मच गई। सेठ शांतिलाल की मोटर वहाँ आकर रुक चुकी थी। उसकी आवाज उन्हें उसी तरह उद्वेलित कर देती थी, जैसे भोजन का समय होने पर कुत्तों के मुँह से अपने आप ही लार टपकने लगती है।

सदा की तरह सेठजी के हाथ में एक बड़ा सा पैकेट था। उसी में से निकाल-निकालकर वे डबलरोटी का एक-एक टुकड़ा एक-एक भिखारी पर फेंकने लगे। एक-दूसरे से आगे बढ़ने की होड़ में वे भिखारी उन टुकड़ों पर कुत्तों की तरह झपटते। कुछ तो उन्हें छिपाकर आगे भी जा बैठते। सेठजी देखते रहते और घृणा से हँसते रहते। कभी-कभी बोल भी उठते—लोग कहते हैं कि गरीब बड़े ईमानदार होते हैं।

लेकिन एक दिन सब उलट-पुलट हो गया। उन्होंने देखा कि भीड़ से दूर एक भिखारी चुपचाप इस दृश्य को देखता खड़ा है। उसने रोटी का टुकड़ा लेने के लिए हाथ तक नहीं हिलाया। सेठजी ने उससे पूछा, ''तुझे रोटी मिली ?''

उत्तर दिया उसने, ''रोटी है कहाँ, जो मुझे मिलती!''

''क्या यह रोटी नहीं है ?''

''नहीं ?''

''तो क्या है ?''

''आपका पाप। आप रोटी नहीं, अपने पाप बाँट रहे हैं। मुझे पाप नहीं, 'आप' चाहिए। दे सकेंगे अपने आपको!''

सेठजी सकते में आ गए, लेकिन बस एक क्षण के लिए। दूसरे ही क्षण उपेक्षा में हँसकर बोले, ''तू भूखा नहीं है। दो दाने पेट में पड़ गए हैं शायद। तभी रोटी को पाप कहता है।''

और वे पूर्वतः रोटी (पाप) बाँटने के लिए आगे बढ़ गए। □

चुटकी

उस दिन लोकसभा के चुनावों को लेकर चर्चा चल रही थी। एक बंधु ने एक वरिष्ठ संसद् सदस्य का नाम लेकर कहा, ''वे निरंतर सन् १९४८ से चुने जाते आ रहे हैं। कह रहे थे कि अब तक मेरा मुकाबला दुनिया में चर्चिल ही कर सकता था, लेकिन इस बार चुनाव जीतकर मैंने उसको भी पछाड़ दिया।''

दूसरे मित्र अत्यंत गंभीरता से बोले, ''बेचारा पछाड़े जाने के डर से पहले ही स्वर्ग की ओर भाग खड़ा हुआ था।''

उससे भी अधिक गंभीर होकर तीसरे मित्र ने कहा, ''अब तो हमारे संसद् सदस्य चर्चिल से निश्चय ही महान् प्रमाणित हो गए हैं, लेकिन अंतर केवल इतना ही है कि चर्चिल जहाँ इतिहास का निर्माण करते थे, वहाँ हमारे संसद् सदस्य उसे पढ़ते हैं।''

वह अपनी बात पूरी कर ही पाए थे कि पीछे से एक मित्र ने उनसे भी अधिक गंभीर होकर पूछा, ''क्या आपके संसद् सदस्य पढ़ना जानते हैं ?''

□

दान

संस्कृति-संघ के रजत-जयंती समारोह की अध्यक्षता दानवीर सेठ शांतिलाल कर रहे थे। मुख्य अतिथि थे संस्कृति और शिक्षा मंत्री ठाकुर जनमेजय सिंह बहादुर। वे बहुत ही प्रभावशाली वक्ता थे। सरकार में आने से पूर्व वे ट्रेड यूनियन-लीडर रह चुके थे, इसलिए कोई भी मंच हो, वे गरीबी और भूख का उल्लेख अवश्य करते थे।

उस दिन भी भारतीय संस्कृति की विशेषताओं का मार्मिक विश्लेषण करते-करते वे बोल उठे, "मित्रो! वैदिक ऋषियों ने सृष्टि के आरंभ में ही घोषणा की थी कि अकेला खानेवाला पापी होता है। तब से लेकर आज तक भारतीय और अभारतीय सभी मनीषियों ने नाना प्रकार से इसी सूत्र की व्याख्या की है। मार्क्स हो, लेनिन हो, माओ हो, गांधी हो सभी ने 'गरीबी हटाओ' का नारा बुलंद किया। संतों ने गुहार की—'भूखे भजन न होय गोपाला।' गांधीजी ने गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर को लिखा—'रोज सवेरे उठकर मेरे मानव-पक्षी का कंकाल एक ही कविता माँगता है—'रोटी'।'

"सो दोस्तो! यदि आप सचमुच भारतीय संस्कृति के उपासक हैं तो अपनी सारी शक्ति गरीबी हटाने में लगा दें। गरीबी हटेगी, भूख मिटेगी तो संस्कृति विकसित होगी।"

इतना कहकर मंत्री महोदय बैठ गए और खचाखच भरा हॉल तालियों की गड़गड़ाहट से गूँज उठा। इसी गूँज के बीच संस्था के महामंत्री ने घोषणा की कि विश्वविख्यात नृत्यांगना कुमारी सुरंगमा कार्यक्रम के अंत में भरत नाट्यम प्रस्तुत करेंगी, लेकिन इससे पहले कि हम उनके लिए मंच खाली करें, मैं आज के अध्यक्ष दानवीर सेठ शांतिलालजी से प्रार्थना करूँगा कि वे भी भारतीय संस्कृति के बारे में अपने अनुभूत विचार प्रकट करें।

तालियों की गड़गड़ाहट के बीच दानवीर सेठ शांतिलाल सकुचाते हुए बोले, ''मित्रो, माताओ और बहनो! मैं भाषण करना नहीं जानता, फिर मंत्रीजी के ओजस्वी और मार्मिक वक्तव्य के बाद मैं कहूँ भी क्या! जो कुछ उन्होंने कहा, मैं उसी का अनुमोदन करूँगा। भारतीय संस्कृति की महानता स्वयंसिद्ध है। उसकी विशेषताओं का अंत नहीं। आज्ञा दें तो एक विशेषता की ओर मैं भी आपका ध्यान आकर्षित करूँ। वह विशेषता है—'दान'। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि यही भारतीय संस्कृति का मूलमंत्र है।

''इसलिए मेरा निवेदन है कि हमें गरीबी को एकदम निर्मूल नहीं कर देना चाहिए। किसी-न-किसी रूप में जीवित रखना चाहिए। यही संतुलन की आवश्यकता होती है, ऐसा संतुलन कि गरीबी तो मिट जाए, पर भूख न मिटे। यदि भूख मिट गई तो हम दान किसे देंगे?''

□

शैशव का भोलापन

मैं अपनी कुरसी पर बैठा लिखने में व्यस्त था। पास के कमरे में बच्चे खेल रहे थे। सहसा सुनता हूँ, मेरे भाई की पाँच वर्षीय बेटी मेरे छह वर्षीय बेटे से कह रही है, ''मैं तुमसे शादी करूँगी।''

''कर लेना,'' मेरे बेटे ने तुरंत उत्तर दिया।

मैं कुछ सोच पाऊँ कि आठ वर्षीय बड़ा बेटा तुनककर बोल उठता है, ''कर लेना? कैसे कर लेना? तू नहीं कर सकता शादी।''

मेरा छोटा बेटा भी भड़क उठता है, ''क्यों नहीं कर सकता? मैं करूँगा।''

बड़ा बेटा सहसा बुजुर्ग हो उठा, ''देख, पिताजी ने अम्मा से शादी की है न?''

''हाँ, की है।''

''अम्मा का घर कहाँ है—इलाहाबाद। पिताजी यहाँ दिल्ली में रहते हैं। तभी उनकी शादी हुई। तुम दोनों तो एक ही घर में रहते हो। तुम्हारी शादी कैसे हो सकती है?''

छोटा बेटा जैसे सोच में पड़ गया। दो क्षण सन्नाटा छाया रहा, फिर वह मेरी भतीजी से कहता है, ''हाँ, यह शादी नहीं हो सकती। मैं नहीं करूँगा तुमसे शादी।''

मैं साँस रोके भतीजी की प्रतिक्रिया की राह देखता हूँ कि जैसे तूफान आ जाता है। मेरी भतीजी चीख उठती है, ''कैसे नहीं करेगा शादी, तुझे करनी होगी।'' और यह कहते-कहते अपने हाथ के खिलौने को मेरे छोटे बेटे के सिर पर दे मारती है और तीर की तरह भागती चली जाती है।

अब जो मेरी हँसी छूटती है तो मुझे यह भी पता नहीं रहता कि वह बच्चे भी जोर-जोर से हँस रहे हैं। हँसे जा रहे हैं। □

भगवान् और पुजारी

ऊँची जातियाँ कुछ लोगों को अछूत मानती हैं। उनसे दूर रहती हैं। उन्हें अपने मंदिरों में और अपने कुओं पर नहीं आने देतीं।

एक दिन अछूत जाति के एक व्यक्ति ने एक मंदिर के पुजारी से कहा, ''मैं मंदिर में आकर भगवान् के दर्शन करना चाहता हूँ।''

पुजारी बोला, ''तुम मंदिर में नहीं आ सकते। तुम अछूत हो।''

उस व्यक्ति ने पूछा, ''क्या मैं किसी भी तरह मंदिर में नहीं आ सकता?''

पुजारी ने उत्तर दिया, ''कह तो दिया, तुम नहीं आ सकते। तुम्हारा जन्म नीची जाति में हुआ है, लेकिन हाँ, एक रास्ता है—तुम दो साल तक तपस्या करो। फिर मेरे पास आओ, तब मैं तुम्हारी बात पर फिर विचार करूँगा।''

दु:खी और उदास वह व्यक्ति अपने घर लौट गया। फिर धीरे-धीरे दिन बीतने लगे। एक वर्ष बीता, दो वर्ष बीते, तीसरा वर्ष भी बीत गया। वह व्यक्ति पुजारी के पास नहीं आया। अचानक एक दिन पुजारी ने उसे मंदिर के पास से जाते हुए देख लिया। उसे अंदर आने की जरा भी चिंता नहीं थी। पुजारी को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने उसे पुकारा, ''सुनो भाई, अब तो तीन वर्ष बीत गए। मैंने तुम्हें दो वर्ष बाद आने को कहा था। क्या तुमने मेरे कहने के अनुसार तपस्या नहीं की?''

उस व्यक्ति ने उत्तर दिया, ''महाराज, मैं तो आपका बहुत ही कृतज्ञ हूँ। मैंने दो वर्ष बड़ी कठिन तपस्या की, इतनी कि भगवान् सचमुच प्रसन्न हो गए। उन्होंने मुझे दर्शन दिए और पूछा, 'क्या चाहते हो वत्स?' मैंने कहा, 'प्रभु! मैं मंदिर में आपके दर्शन करना चाहता हूँ।' ''प्रभु हँसे, बोले, 'तुम वहाँ जाकर क्या करोगे? हजारों वर्ष बीत गए हैं, मैं भी वहाँ नहीं गया हूँ।''

यह सुनकर पुजारी का चेहरा राख हो आया, लेकिन उसका घमंड दूर नहीं हो सका। आज भी वह प्रभुहीन मंदिर के द्वार बंद किए बैठा है। □

खद्दर की धोती

गांधी युग का प्रथम दौर आरंभ हो चुका था। उनके आह्वान पर सभी भारतवासी स्वराज्य के लिए एकप्राण होकर उठ खड़े हुए थे। उनमें उसके एक नवयुवक चाचा भी थे। तत्कालीन हर प्रगतिशील धार में वह बड़ी कुशलता से तैरते थे। उन्हीं दिनों की एक सभा की याद है। गाँव की धर्मशाला खचाखच भरी थी। भाषण हो रहे थे कि सहसा मंच पर एक बालक दिखाई दिया। छोटा सा वह भोला-भाला बालक बहुत प्यारा लग रहा था। वह भी सात-आठ वर्ष का रहा होगा। बालक ने जो कुछ कहा था, वह आज भी याद है उसे, "मैं आपका बच्चा हूँ। मेरी उम्र पाँच साल की है। खद्दर पहनता हूँ। आपसे भी हाथ जोड़कर प्रार्थना करता हूँ कि आप भी खद्दर पहनें।"

वह चुप हो गया और सभा तालियों की गड़गड़ाहट से गूँज उठी। सजल नयन चाचा उसकी ओर मुड़े और बोले, "देख बे! एक यह लौंडा है और एक तू है। कैसी ज्ञान की बात कही है?"

शर्म से उसने सिर झुका लिया। शायद उसके दो-तीन दिन बाद गाँव में पैठ लगी थी। कौतूहल से हर चीज को देखता हुआ वह घूम रहा था कि सहसा एक जुलाहे की दुकान पर खद्दर की एक मोटी धोती दिखाई दी, तुरंत अपने पिताजी को बुला लाया। कहा, "लालाजी! मुझे यह ले दो।"

उन्होंने झुककर उस धोती को देखा, परखा और फिर उसके गाल पर एक तमाचा मारा, "साला! यह धोती है या टाट। बित्ता भर का लौंडा, पहनेगा मन भर की धोती। चल हट।"

चाँटे से नहीं, उन शब्दों की चोट से वह इतना व्यथित हुआ कि रो भी नहीं सका। अनबूझ-सा गाल पर हाथ रखे पिताजी के मुँह की ओर देखने लगा।

तभी उसने अपनी पीठ पर एक स्नेह-स्पर्श अनुभव किया। दृष्टि घुमाई तो देखा कि चाचा खड़े हैं। एकाएक वह सिसकने लगा। उन्होंने उसे अपने समीप खींच लिया और पिताजी को झिड़ककर कहा, ''ले क्यों नहीं देता यह धोती, तुझे नहीं मालूम एक दिन यह बड़ा आदमी बनेगा।''

□

और बहन राह देखती रही

एक लंबी यात्रा में मेरा बिस्तर किसी मुसलिम नवयुवक के बिस्तर से बदल गया। जब तक मुझे इस तथ्य का पता लगा, तब तक वह युवक बंबई के लिए रवाना हो चुका था।

अब क्या हो? मेरे आतिथेय ने बहुत सोच-समझकर रास्ता सुझाया कि अभी इटारसी जंक्शन के स्टेशन मास्टर को तार दिया जा सकता है। लिखा जाए कि अमुक गाड़ी से अमुक नाम का एक मुसलिम युवक रवाना हुआ है। उससे बिस्तर बदल गया है। इटारसी जंक्शन पर उसे रोक लिया जाए।

ऐसा ही किया गया और रात की गाड़ी से मैं भी इटारसी की ओर चल पड़ा। इस बात का कोई निश्चय नहीं था कि वह युवक इटारसी में मिल सकेगा। लेकिन आश्चर्य, सवेरे के समय जब मेरी गाड़ी धीरे-धीरे प्लेटफॉर्म की ओर बढ़ रही थी तो उस भीड़ में मैंने देखा कि एक युवक बेंच पर खड़ा है और उसने बिस्तर को दोनों हाथों से ऊपर उठाया हुआ है।

यह वही युवक था। बिस्तर मेरा ही था। उस युवक की सूझ और सहृदयता पर मैं चकित रह गया। मेरे बिस्तर को लेकर युवक स्वयं परेशान था। वह युवक अपनी बहन की शादी में सम्मिलित होने के लिए बंबई जा रहा था और वह शादी उसी रात को होने वाली थी। उस शादी में शामिल होना उसके लिए असंभव था। यह जानकर मुझे बहुत दुःख हुआ। युवक ने उत्तर दिया, ''दुःख तो मुझे भी है कि मैं अपनी बहन की शादी में शामिल नहीं हो सकूँगा, लेकिन मुझे इस बात की खुशी भी है कि हम अपना-अपना बिस्तर पा सके। किसी दूसरे के बिस्तर पर सोने पर नींद नहीं आती।''

वह जोर से हँस पड़ा। हम सारा दिन उस निर्जन स्टेशन पर घूमते रहे और हँसते रहे, उधर बंबई में बहन भाई की राह देखती रही। □

प्रेम की भेंट

इंजीनियर दिलीप सिंह का प्रण था कि वह कभी रिश्वत नहीं लेंगे और उन्होंने कभी ली भी नहीं। जब उनके पेंशन लेने का समय आया तब सब लोगों ने एक स्वर में यही कहा—'बाबू दिलीप सिंह ने कभी रिश्वत नहीं ली।'

एक सरकारी अफसर के लिए इससे शानदार बात और क्या हो सकती थी! इसी शानदार बात के कारण लोगों ने सोचा कि विदाई के अवसर पर इंजीनियर साहब को कोई ऐसी चीज भेंट में देनी चाहिए, जिसे वह स्वीकार कर सकें।

बहुत सोच-विचार के बाद उन्होंने एक अँगूठी बनवाई। वह अँगूठी बहुत सुंदर थी। कीमती तो थी ही। लेकिन जिस समय इंजीनियर साहब को भेंट की गई तो वह असमंजस में पड़ गए। बेशक वह रिश्वत नहीं थी, पर फिर भी वह उन लोगों की ओर से आ रही थी, जो रिश्वत लेने-देने के आदी रहे हैं। उन्होंने सोचा—तो वह क्या करें। लौटा दें। बड़े प्रेम से उन्होंने उस अँगूठी को बनवाया है। उसके बदले में वे कुछ चाहते नहीं।

ऐसे ही विचार उन्हें बहुत देर तक तंग करते रहे, परंतु जब अंतिम निर्णय का समय आया तो उन्होंने अँगूठी स्वीकार कर ली। लोगों के दिल खुशी से खिल उठे। इंजीनियर साहब ने आखिर उनके प्रेम को पहचाना और उनका आदर किया।

समारोह का प्रबंध नदी के उस पार किया गया था। उसके समाप्त हो जाने पर वे सब इस पार आने के लिए नाव पर सवार हुए। बड़ा सुहाना समय था। नाव हवा के साथ अठखेलियाँ करती हुई नदी की छाती पर नाच रही थी। आसमान में सूर्य विदा के चित्र बना रहा था। लोगों के मन में हर्ष भी था और दर्द भी। विदा में सदा दर्द भरी मिठास रहती है, फिर भी वे प्रसन्न थे और रह-रहकर इंजीनियर साहब की प्रशंसा करने लगते थे। इंजीनियर साहब भी सदा की तरह हँस-हँसकर

बातें कर रहे थे।

नाव ठीक मझधार में आ गई। लहरें जोर मारने लगीं। दूर कहीं पत्थरों से टकराकर जल गंभीर स्वर में गरज उठा। मल्लाहों को अब शक्ति का प्रयोग करना पड़ा। बाबू दिलीप सिंह सहसा कुछ क्षणों के लिए मौन हो गए, फिर उन्होंने अँगूठी को देखा—देखते रहे, सोचते रहे—कितनी सुंदर वस्तु है! रत्न कैसे झिलमिलाता है! सौंदर्य और कला के साथ मनुष्य का कितना प्रेम जुड़ा है!

'प्रेम…' जैसे वह बुदबदाए हों। उनके होंठ हिले और साथ ही हाथ भी उठा, दूसरे ही क्षण अँगूठी हाथ से छूटकर बिजली की तरह नदी की छाती पर जा चमकी और फिर सदा के लिए लहरों में समा गई। यह सब पलक मारते ही हो गया। जब तक लोग समझें, तब तक वहाँ कुछ भी शेष नहीं था।

□

तो अच्छा

बहुत पुरानी बात है। उसका बच्चा कई बार उससे क्रिकेट खेलने का सामान लाने के लिए कह चुका था। वह बार-बार उसको टाल देता था। एक दिन जब वह काम कर रहा था तो वह बालक उसके पास आया और क्रोध से भरकर बोला, ''मैं कई दिन से तुमसे खेलने का सामान लाने के लिए कह रहा हूँ, लेकिन तुम लाते नहीं।''

उसने सहसा बालक की ओर देखा और कहा, ''हाँ, मैं ला नहीं सका।''

''क्यों नहीं ला सके?''

''क्योंकि पैसे नहीं हैं।''

बालक और भी उग्र होकर बोला, ''सारा दिन मेज पर बैठे-बैठे लिखते रहते हो, इतने पैसे भी नहीं कमा सकते कि मेरे लिए खेल का सामान ला सको?''

उसने उसी उदासीनता से कहा, ''हाँ, नहीं कमा सकता।''

''तो कितना कमा सकते हो?''

''उतना जितने में अपना और तुम सबका पेट भरा जा सके।''

यह कहकर उसने बालक की ओर देखा कि वह और भी उग्र हो उठेगा। लेकिन आश्चर्य, वह उतना ही शांत हो आया और अपने स्वर में अत्यंत करुणा भरकर बोला, ''तो अच्छा।''

लेकिन बालक जितना शांत हुआ, उसका पिता सहसा उतना ही अशांत और उग्र हो उठा। उसका रोम-रोम जैसे उत्तेजित हो उठा हो। उसके जी में आया कि इस बालक का गला घोंट दे—इस दुष्ट का इतना साहस कि उससे सहानुभूति प्रकट करता है!

यह सब पलक मारते ही हो गया। जब उसे होश आया तो वह बालक जा चुका था, लेकिन वह इतना उद्विग्न हो उठा था कि उस दिन कुछ काम न कर सका। उसका—वह 'तो अच्छा'—उसके लिए चुनौती बन गया। □

शैशव

घर लौटकर वह देखता है कि उसकी मरणासन्न पत्नी के पलंग के पास उसका तीन वर्षीय पौत्र ध्यानस्थ बैठा कह रहा है, "हे भगवान्! मेरी अम्मा को अच्छा कर दो।"

इस दृश्य पर वह चकित था और उसकी पत्नी तरल।

दो क्षण बाद वह दवा देने उठा तो उस बालक ने कहा, "अम्मा को दवा मैं दूँगा।"

पत्नी और भी गद्गद हो आई, बोली, "अब मैं अच्छी हो जाऊँगी।"

लेकिन प्रभु ने बालक की गुहार अनसुनी कर दी। पत्नी अच्छी नहीं हुई। उसकी शवयात्रा में बालक ने उसपर चँवर डुलाया और घंटी बजाया। कई दिन तक वह कहता रहा, "चँवर डुलाकर, घंटी बजाकर अम्मा को भगवान् को दे आए। वह फिर आएँगी।"

कुछ दिन बाद बालक के पिता बीमार हो गए। बालक मस्ती में शोर मचाता घूम रहा था। उसने कहा, "बेटे, शोर मत मचाओ, तुम्हारे पापा बीमार हैं।"

बालक ने तुरंत सहज भाव से पूछा, "वैसे ही बीमार हैं जैसे अम्मा बीमार थीं? उन्हें भी भगवान् के पास ले जाएँगे, घंटी बजाकर चँवर डुलाकर।"

जैसे पृथ्वी डोली हो, वह सहम आया, चाहा कि एक थप्पड़ जड़ दे उसके गाल पर; लेकिन तभी उसकी दृष्टि बालक की आँखों पर जाकर अटक गई। वहाँ तो शैशव बैठा मुस्करा रहा था, वीतराग-नि:संग।

□

सीमा

वे किसी अनाम देश के उपप्रधानमंत्री थे। वे न केवल देशवासियों की आँखों के तारे थे, बल्कि प्रधानमंत्री भी उनपर सबसे अधिक विश्वास करते थे। वे थे भी अनुपम प्रतिभाशाली। जो भी विभाग उन्हें मिलता मानो पारसमणि का स्पर्श पाकर कंचन हो उठता। वे ही प्रधानमंत्री के उत्तराधिकारी हैं, इसमें किसी को संदेह नहीं रह गया था। स्वयं प्रधानमंत्री बार-बार इस तथ्य को दोहराते रहते थे।

सफलता और लोकप्रियता के इन क्षणों में प्रधानमंत्री ने एक दिन अपने अंतरंग मंत्रिमंडल की बैठक बुलाई। उसी दिन उपप्रधानमंत्री भी अपनी लंबी यात्रा से लौट रहे थे, लेकिन अचानक मौसम खराब हो जाने के कारण उनका वायुयान राजधानी में न उतर सका। उसे वापस लौट जाना पड़ा।

मंत्रिमंडल की बैठक हुई, पर प्रधानमंत्री ने देखा कि उपप्रधानमंत्री की अनुपस्थिति में कोई भी मंत्री निर्णय नहीं ले पा रहा है। एक क्षण स्तब्ध रहकर उन्होंने परिस्थिति को आँका। मुस्कराए। क्षण के सहस्रवें भाग में मस्तिष्क में एक विचार कौंध गया। बोले, ''आज की बैठक में उनका रहना कुछ आवश्यक था। परसों वह अवश्य आ जाएँगे, इसलिए बैठक तब तक के लिए स्थगित किए देते हैं।''

बैठक स्थगित करने के बाद प्रधानमंत्री ने अपने अंतरंग सुरक्षा अधिकारियों से देर तक मंत्रणा की। मुख्य सुरक्षा अधिकारी जब वापस लौटे तो जानकार सूत्रों के अनुसार उनके चेहरे पर क्रूर गंभीरता झलक रही थी। मुस्कराने का हर प्रयत्न क्रूरता को और भी उजागर कर देता था।

तीसरे दिन ११ बजे उपप्रधानमंत्री का वायुयान पहुँचने वाला था, लेकिन साढ़े दस बजे बिजली की तरह एक समाचार वातारण में कौंध गया, 'उपप्रधानमंत्री

को लेकर आ रहा वायुयान कहीं भटक गया है। बड़ी तेजी से उनकी तलाश की जा रही है। प्रधानमंत्री स्वयं टावर में मौजूद हैं।'

११ बजे रेडियो ने मातमी धुन बजानी शुरू कर दी। दो क्षण बाद काँपते स्वर में समाचार-वाचक ने कहा, ''हम बड़े दुःख के साथ सूचना दे रहे हैं कि उपप्रधानमंत्री का वायुयान एक विस्फोट के कारण दुर्घटनाग्रस्त हो गया। उसमें सवार कोई भी यात्री और कर्मचारी नहीं बच पाया है। प्रधानमंत्री तुरंत घटना-स्थल पर पहुँच गए हैं। उन्हें विश्वास है कि विस्फोट किसी बाहरी षड्यंत्र का परिणाम है।''

उन्होंने घोषणा की है—''इस घृणित षड्यंत्र का पर्दाफाश करने में मेरी सरकार कुछ भी नहीं उठा रखेगी। ऐसे अवसर पर उपप्रधानमंत्री के अवसान से देश को अपार क्षति पहुँची है। संकट के क्षणों में हम सब उनकी ओर देखते थे। हमें राह दिखानेवाला प्रकाश बुझ गया है, पर हम हतोत्साहित नहीं होंगे और उनके साहस का अनुकरण करते हुए आगे बढ़ते रहेंगे।''

□

तर्क का बोझ

नंगे पैर, सिर पर बिक्री के सामान का थाल रखे वह रोता हुआ चला आ रहा था। वह बार-बार कुरते की बाँह से आँसू पोंछ लेता था, पर आँसू थे कि रुकते ही नहीं थे।

उसके रोने ने लोगों का ध्यान उसकी ओर खींचा। मेरा दिल भी भीग गया। मैंने आवाज देकर उसे अपने पास बुलाया और पूछा, "क्यों रोता है रे?"

उसने सुबकते हुए जवाब दिया, "मेरे पैसे निकाल लिये।"

"किसने?"

"पता नहीं।"

"कहाँ रखे थे?"

"थाल में।"

दिन भर घूम-घूमकर उसने लगभग दो रुपए का सामान बेचा था। उसमें से एक रुपया दस आने बाँधकर उसने अलग रख लिये थे। उस बँधी हुई पुड़िया को किसी राह चलते ने थाल से उचककर निकाल लिया था।

उसकी यह कहानी सुनने के बाद कुछ लोगों ने कंधे उचकाकर दोनों हाथ हिलाए और चले गए। एक राहगीर ने तीव्रता से नवयुग की सभ्यता को कोसना शुरू कर दिया। करुणा के बावजूद मेरे मन में पहली प्रतिक्रिया अच्छी नहीं हुई। सोचा, यह लड़का धूर्त जान पड़ता है। पैसे कहीं रख आया है और अब झूठ-मूठ लोगों की करुणा का अनुचित लाभ उठाना चाहता है। नई दिल्ली में ऐसे कई लड़के घूमा करते हैं। एक लड़का शाम को अखबार बेचा करता है और रोज फटी जेब दिखाकर रोता हुआ कहता है, 'मेरी जेब फट गई, पैसे गिर गए, अब मालिक को क्या दूँगा?'

और तब सड़क पर चलनेवाले सैकड़ों व्यक्तियों में से कोई-न-कोई ऐसा

निकल ही आता है, जो उस बालक के करुण विलाप से द्रवित हो उठता है और उसे छह आने पैसे दे देता है।

'तो क्या यह भी उसी जैसा है? क्या यह भी पेशेवर है?'

लगता तो ऐसा ही है—मैंने अपने आपसे कहा और आगे बढ़ना चाहा, पर तभी मन में तर्क उठा—यह लड़का तो छब्बीस आने उठाए जाने की बात कहता है जबकि छह आने और छब्बीस आने में अंतर है। फिर उसकी जेब फटी नहीं है। किसी ने उसके थाल में से पैसे उठाए हैं। मैंने स्वयं कई लंबे आदमियों को छोटे व्यक्तियों या बालकों के सिर पर रखे सामान में से चोरी करते देखा है।

मन कुछ ढीला पड़ा और करुणा की पकड़ कुछ गहरी हुई, पर तब तक वह बालक दूर जा चुका था। इस बात ने मुझे और भी प्रभावित किया। वह कहानी कहकर रुका नहीं, चला ही गया। वह अवश्य सच्चा था, झूठा होता तो गिड़गिड़ाता, खड़ा रहता।...नहीं-नहीं, वह सच्चा है। किसी दुष्ट ने उस गरीब की कमाई पर डाका डाला है। बेचारा गरीब बालक, शायद उसका बाप मर चुका है। घर पर उसकी माँ उत्सुकता से उसकी राह देख रही होगी। डाके की बात सुनकर वह क्या कहेगी? उसका दिल टूट जाएगा। उन्हें शायद फाका भी करना पड़े...।

बस, मेरा मन द्रवीभूत हो उठा। मैंने जेब में हाथ डाला और एक रुपया का नोट निकालकर उसके पीछे लपका।

वह तब तक गली से बाहर मुख्य सड़क पर आ गया था। कुछ अँधेरे के कारण और कुछ मोड़ होने के कारण मैं उसे ठीक-ठीक देख भी नहीं पा रहा था। केवल उसका रुदन मेरा मार्ग-दर्शन कर रहा था। मैं और तेजी से लपका और कुछ पास आकर चाहा कि पुकारूँ कि तभी देखता हूँ कि एक राहगीर उसके पास आकर कुछ पूछ रहा है। मानो मुझे लगा हो कि वह व्यक्ति लड़के के रहे-सहे पैसे छीनने आया है। मैं आवेश में आकर चिल्ला उठा—"क्या बात है?"

राहगीर मुड़ा, बोला, "कुछ नहीं, बाबूजी। बेचारे बच्चे के थाल में से किसी कमबख्त ने पैसे उठा लिये हैं।"

यह सब पलक मारते हो गया और जब तक मैं उनके पास पहुँचूँ, वह व्यक्ति जिस तेजी से आया था उसी तेजी से भीड़ में जा मिला। मुड़ते-मुड़ते जितना कुछ मैं उसे देख सका, उससे पता लगा कि वह कोई गरीब मजदूर था, उसके कपड़े मैले थे और पैर नंगे।

मैं अब उस लड़के के बिलकुल पास आ गया था और वह लड़का चुपचाप ढेर सारे पैसों को कागज में लपेट रहा था। मैं काँपा। नोट को मुट्ठी में भींचकर कुछ तल्खी से पूछा, "क्यों रे, पैसे कहाँ से आए?"

"वह आदमी दे गया है।"

"सब?"

"उसने एक रुपया दस आने दिए हैं।"

यह कहकर वह भी आगे बढ़ गया, पर मेरे पैर तो जैसे मन-मन भर के हो गए थे। तर्क का बोझ जैसे धरती में गाड़े दे रहा था। हाथ में नोट दबाए लज्जित-कंपित देर तक वहीं खड़ा रहा।

□

ब्रह्मानंद सरोवर–एक अनुभूति

क्या हुआ, कैसे हुआ, क्यों हुआ कुछ नहीं मालूम। बस उसने निर्णय कर लिया था कि वह बेटी के विवाह से संबंधित किसी समारोह में भाग नहीं लेगा।

और जब पंडितजी लग्नबंधन संस्कार की तैयारी में व्यस्त थे, वह वहाँ से भाग खड़ा हुआ। भागता-भागता न जाने कितनी दूर पहुँचा, पता नहीं; पर जहाँ पहुँचा वहाँ नितांत निर्जन था। कभी वन्य पशुओं का स्वर गूँज उठता, कभी पक्षी चहचहा उठते या कभी हवा तेज होती तो पत्तों की सरसराहट उसके तन-बदन में सिहरन पैदा कर देती।

कई क्षण वह शांत मन इधर-उधर बैठा रहा। उसे सुख मिला, पर फिर अनजाने ही एक अपराध-बोध ने उसे जकड़ लिया। उसने अनुभव किया कि उसने वहाँ से भागकर गलती की है। पंडितजी ने संस्कार का प्रबंध करके कन्या के माता-पिता को पुकारा होगा। सब उसे ढूँढ़ रहे होंगे। उसे न देखकर पत्नी कितनी उद्विग्न हो रही होगी। बेटी को पता लगा होगा तो उसका दिल टूट गया होगा।

हाय, यह क्या कर बैठा! वह अनजाने ही घर की ओर दौड़ने लगा, पर क्या वह समय पर पहुँच सकेगा। क्या…

उसे झटका लगा और सहसा उसकी आँख खुल गई। उसका दिल तूफान की गति से दौड़ रहा था। उसकी साँस जैसे गले में अटक गई थी। उसने आँखें फाड़कर चारों ओर देखा।

यह क्या! वह तो अपनी चारपाई पर लेटा है।

उसने स्वस्ति की दीर्घ नि:श्वास खींची, 'तो वह सपना देख रहा था।'

उसे कैसा सकून, कैसी शांति मिली। उसे न वह स्वर दे सकेगा न शब्द। वही अनुभूति, वही सुख तो ब्रह्मानंद सरोवर है। □

कोशिश

गली के मोड़ पर बैठा भिखारी प्रतिदिन देखता कि बड़ी हवेलीवाले प्रदीप बाबू ढेर सारी पुस्तकें-फाइलें लिये, स्कूटर पर सवेरे जाते हैं तो अँधेरा पड़े ही लौटते हैं। एक दिन साहस करके उसने पूछा, ''आप कहाँ नौकरी करते हैं बाबूजी?''

प्रदीप एक क्षण रुका, समझ नहीं पा रहा था कि भिखारी को कैसे समझाए। फिर भी उसने कहा, ''मैं कहीं नौकरी नहीं करता भाई। अभी तो मैं उस लायक होने की कोशिश कर रहा हूँ।''

भिखारी बड़े जोर से हँसा, बोला, ''तब बाबूजी! आपको भी मेरे रास्ते पर आना पड़ेगा। मैं भी रोजी-रोटी कमाने लायक हो सकूँ, यह कोशिश करते-करते यहाँ पहुँचा हूँ।''

□

नपुंसक

मकान मालिक के पास नंबर दो के पैसे का अक्षय भंडार था। इस अहंकार की सीमा भी नहीं थी, पर उनका शरीर दोहरा हो चुका था। वह सभी अर्थों में कुबड़े थे। सुदृढ़ शरीरवाला उनका किराएदार यद्यपि ईमानदार और शांत स्वभाव का था पर थोड़ा शरारती था।

दोनों पड़ोसी थे, इस कारण प्रायः खंग-हस्त हो उठते थे। खंग वैसे मकान मालिक की वाणी में रहता था, क्योंकि हाथ के खंग का प्रयोग वे नहीं कर सकते थे। उस विचित्र युद्ध को देखने प्रायः तमाशबीन भी आ जुटते थे। उस दिन भी आ जुटे। उस दिन मकान मालिक के खंग की धार कुछ अधिक ही तेज थी। वे अग्निशर्मा होकर घोषणा कर रहे थे—"मैं तेरा सत्यानाश कर दूँगा। तुझे भीख मँगवा दूँगा, तुझे कहीं मुँह दिखाने लायक नहीं छोड़ूँगा, तेरी बीवी-बच्चों को…।"

"बस, बस," सौम्यदर्शन किराएदार ने गंभीर होकर उत्तर दिया, "तू सबकुछ कर सकता है, पर एक काम नहीं कर सकता।"

"मैं सबकुछ कर सकता हूँ। मैं वह काम भी कर सकता हूँ…।" मकान मालिक सप्तम स्वर में चीखे।

"तू मुझसे आँख तक तो मिला नहीं सकता और क्या करेगा?" सौम्यदर्शन किराएदार ने शांत स्वर में कहा और मुस्कराते हुए अंदर चला गया।

"क्या…क्या…?" मकान मालिक का दंभ टूट चुका था और तमाशबीनों का मुँह खुल गया था। वे हँसते-हँसते दोहरे हो रहे थे।

□

संवेदन

सदा की तरह गाड़ी स्टेशन पर रुकी ही थी कि नाना रूप भिखारी न जाने कहाँ-कहाँ से आकर खिड़कियों के सामने खड़े हो गए। एक अर्धनग्न लड़की वैसे ही अर्धनग्न और कुरूप लड़के को लिये ठीक मेरी खिड़की के आगे गिड़गिड़ा रही थी। बार-बार डाँटने पर भी जाने का नाम नहीं ले रही थी। 'हे भगवान्! कब पीछा छूटेगा इन बदबख्तों से। हमारी सरकार इस ओर जरा भी ध्यान नहीं देती। कैसी ढीठ है, चुंबक की तरह चिपकी है, खिड़की से।'

तभी एक पुलिस का सिपाही वहाँ आया और उस लड़की की चोटी खींचते हुए उसे दूर घसीट ले गया। वह चीख उठी। गोद के शिशु के क्रंदन से तो जैसे आकाश भर उठा हो।

तब सहसा मेरे अंतर को एक हूक सी चीर गई। मेरी आँखें भर आईं और मैं उस सिपाही को गालियाँ देने लगा।

□

मूक शिक्षण

जाड़े का मौसम आ पहुँचा। फुलेना प्रसाद के पास एक भी गरम कोट नहीं था। उनकी पत्नी तारा देवी ने कई बार कहा, पर वे टाल गए। आखिर तारा देवी कब तक देखती रहतीं। एक दिन चुपचाप बाजार गईं और ओवरकोट के लिए ऊनी कपड़ा खरीद लाईं। मन-ही-मन सोच रही थीं—कुछ भी क्यों न हो, आज वे जरूर उसकी प्रशंसा करेंगे और प्रशंसा न भी करें, प्रसन्न तो होंगे ही। इसीलिए रात को जब फुलेना प्रसाद घर आए, तो तारा देवी ने वह कपड़ा उन्हें देकर कहा, "सवेरे दर्जी को कोट सिलने दे आइए।"

फुलेना प्रसाद ने चौंक कर पूछा, "मैं?"

"जी हाँ, आप।"

"किसके लिए?"

"अपने लिए।"

जैसे फूल मुरझा जाता है, कुछ इसी प्रकार मुस्कराकर फुलेना प्रसाद ने कहा, "मैं कोट सिलवाऊँ?"

यह सुनकर तारा देवी दबे स्वर में बोलीं, "तो क्या मैंने गलती की है?"

"अरे नहीं, यह किसने कहा?"

"लगता तो कुछ ऐसा ही है।"

"अरे छोड़ो भी। आओ, चलो घूम आएँ। दर्जी की दुकान पर तो कल जाना है।"

दोनों घूमने निकले। घूमते-घूमते वे दोनों उधर पहुँचे जिधर मजदूर रहते थे। वहाँ की भूमि सीली, दुर्गंध से भरी हुई तथा ऊँची-नीची थी। उसपर फोड़े-फुंसियों की तरह टूटे-फूटे घर फैले पड़े थे। हर जगह गरीबी और गंदगी। मनुष्यों के शरीर पर वस्त्र नहीं थे, पेट में अन्न नहीं था। एक चौक में एक अलाव जल रहा

था और उसके चारों ओर खुले आसमान के नीचे बहुत से नंग-धड़ंग बच्चे और अधनंगे बूढ़े लेटे हुए थे।

तारा देवी सिहर उठीं। पूछा, ''यह क्या है ?''

फुलेना प्रसाद ने जवाब दिया, ''अपनी आँखों से पूछो।''

तारा देवी फिर कुछ नहीं बोलीं। चुपचाप घर लौट आईं। अगले दिन वे सदा की तरह बाजार गईं और कोट का कपड़ा साथ ले गईं। सीधे उसी दुकान पर पहुँचीं जहाँ से कपड़ा खरीदा था। बोलीं, ''इसे ले लीजिए और इसके बदले में कुछ बने-बनाए कपड़े बच्चों के लिए दे दीजिए।''

□

लीक से हटकर

मैं ने उस रात एक विचित्र स्वप्न देखा।

सदा की तरह परस्पर विरोधी नारों से राजधानी की सड़कें गूँज रही थीं। पक्षी-दल का दावा था कि एशियाड के कारण देश का विदेशों में मान बढ़ा है। मान बढ़ने से साख बढ़ी है। साख बढ़ी है तो ऋण लेने की क्षमता भी बढ़ी है। इसके अतिरिक्त राजधानी की धमनियों में नए रक्त का संचार हुआ है। नए रक्त ने उसे नया रूप दिया है, नई शक्ति दी है। नए रूप और नई शक्ति से पर्यटकों का आकर्षण बढ़ेगा और इस आकर्षण का अर्थ है अधिक विदेशी मुद्रा। विदेशी मुद्रा गरीबी दूर करने का अचूक साधन है, इसलिए हमारा यह निश्चित मत है कि एशियाड के कारण देश की छवि निखरी है और गरीबी बिखरी है।

विपक्षी दल के तूणीर में भी तीरों की कमी नहीं थी। उन्होंने नारा दिया कि एशियाड से छवि निखरी अवश्य है, पर देश की नहीं, शासक दल की। प्रजा तो और आहत हुई है, क्योंकि उसी के मुँह का कौर छीनकर पाँच सितारोंवाले होटलों की गगनचुंबी इमारतें बनी हैं। उसकी आहों को दबाने के लिए मधुर-मादक संगीत का निर्माण हुआ है। उसकी ठठरी को छिपाने के लिए मखमल के परदे टाँगे गए हैं। उसकी लाश से उठनेवाली दुर्गंध को दबाने के लिए नाना प्रकार के सुगंधित द्रव्य तैयार किए गए हैं। उसकी तथाकथित दकियानूसी संस्कृति को व्यर्थ करने के लिए सोविनियरों के बहाने नगर-कन्याओं ने अपने शरीर दाँव पर लगाए हैं।

ये परस्पर विरोधी नारे जब इतने उलझ गए कि देश की साँसों की धड़कनों को खतरा पैदा हो गया तब प्रधानमंत्री ने वक्तव्य दिया, ''मैं जानती हूँ कि देश में भूख है, गरीबी है, भ्रष्टाचार भी है। देश का मनचाहा विकास नहीं हो पा रहा। इन्हीं कमियों को दूर करने के लिए हम सबको—सरकार, विपक्ष और जनता को—नई राहें ढूँढ़नी हैं। कुछ नया करना है। लीक से हटकर करना है। एशियाड

का आयोजन करके मैंने वही लीक से हटकर कुछ नया करना चाहा है। कहा भी है—'लीक-लीक ना चले, शायर, सिंह, सपूत।'

"और यह सब करते हुए मैंने अपनी संस्कृति के महान् ग्रंथ 'गीता' की इस अमर शिक्षा को ध्यान में रखा है कि 'कर्म करना हमारा अधिकार है, फल की चिंता करना नहीं।"

इस सारगर्भित भाषण के बाद तालियों की गड़गड़ाहट से जो गूँज उठी, उसने देश की साँसों की धड़कन इतनी तेज कर दी कि उन्हें सँभालना मुश्किल हो गया।

पर अब न तो सरकार को और न ही विपक्ष को इसकी चिंता है।

□

आचरण की सभ्यता

नितांत अकेली वह वृद्धा न जाने कब से उस मकान में रह रही थी। कोई नहीं जानता था कि उसे कोई कष्ट है। यंत्र की तरह उसका जीवन अपनी डगर पर आगे बढ़ता जाता था। सवेरे ग्वाला आता और दूध की बोतल रख जाता। छह बोतले रखने के बाद वह रुकता और पैसों के लिए द्वार खटखटाता।

इस बार भी उसने ऐसा किया, लेकिन तभी उसकी दृष्टि नीचे झुकी। आश्चर्य, छह-की-छह दूध की भरी बोतलें वैसी-की-वैसी रखी हुई थीं जैसे वह रखता गया था। तो क्या वृद्धा ने उन्हें नहीं उठाया। क्यों नहीं उठाया? क्या वह बीमार है?

बार-बार द्वार खड़खड़ाने पर भी जब कोई उत्तर नहीं मिला तो पुलिस की सहायता से उसने द्वार तोड़ा। अंदर प्रवेश करते ही लाश से उठनेवाली दुर्गंध ने उसे बेचैन कर दिया। वृद्धा छह दिन पूर्व मर चुकी थी।

घड़ी की सुइयों की तरह काम करनेवाले ग्वाले के पास इतना अवकाश नहीं रहता था कि वह दूध की बोतलों को जमा होते देख पाता और आस-पास रहनेवाले व्यक्ति इतने ईमानदार थे कि उन्होंने बोतलों की ओर नजर उठाकर भी नहीं देखा।

☐

धातु और रुपया

तीन मित्र मिले। न जाने कैसे उनमें शर्त लग गई कि जो धातु-दोष के संबंध में सबसे अच्छा चुटकुला सुनाएगा, उसे मूँगफली के तेल का एक डिब्बा रियायती मूल्य पर दिलवाया जाएगा।

पहला मित्र बोला, ''डिब्बे की मुझे बहुत जरूरत है, पर मैं धातु-दोष को स्वीकार नहीं करता। हाँ, एक सही चुटकुला अवश्य सुना सकता हूँ। स्वामी दयानंद सरस्वती युग प्रवर्तक होने के साथ-साथ विनोदप्रिय भी बहुत थे। कभी-कभी बड़ा तीखा विनोद करते थे। एक दिन उनके पास खरे चाँदी के सिक्के देखकर एक मूँड़ मुँड़ाए संन्यासी ने उनसे कहा, ''स्वामीजी, आप संन्यासी होकर धातु का स्पर्श करते हैं? यह तो पाप है।''

स्वामीजी तुरंत बोले, ''पाप-पुण्य की बात मैं नहीं जानता, पर क्या आपने अपना सिर जूते से मुँड़वाया है?'' उसके बाद क्या हुआ, इतिहास में इस बात का कोई उल्लेख नहीं है। पर दूसरा मित्र बोला, ''यह तो दोष को अस्वीकार करने का चुटकुला है। मैं स्वीकार का सुनाता हूँ। एक व्यापारी थे। उन्होंने आपके जैसे संन्यासी के प्रभाव में आकर धातु-स्पर्श से परहेज करने की प्रतिज्ञा कर ली। वे ग्राहक से धातु के सिक्के न लेकर कागज की मुद्रा लेते थे। खरीज की आवश्यकता होती, तो एक बक्सा रखा रहता था, उसी में से ग्राहक जरूरत के अनुसार खरीज निकाल लेता या डाल देता, लेकिन व्यापारी की निगाह बचाकर कोई कुछ नहीं कर सकता था।''

तीसरा मित्र बोला, ''यानी वे धातु का स्पर्श हाथ से नहीं, निगाहों से करते थे। यह भी क्या बात हुई। सुनिए, मैं आपको एक सच्चा चुटकुला सुनाता हूँ। एक साहित्यिक मित्र थे। बड़ा नाम था उनका, पर आप जानते हैं, साहित्यकार को पैसा उतना नहीं मिलता, जितना पूँजीपति को। उन्होंने एक रास्ता निकाला। एक बड़े

अफसर से दोस्ती की। वे आयात-निर्यात विभाग में थे, लाइसेंस देने का धंधा खूब चलता था। उन्होंने किसी तरह दो लाइसेंस प्राप्त कर लिये, लेकिन उनको लेकर जो झंझट फैलता, उसको सँभालने की हिम्मत उनमें कहाँ थी। सो खूब गहरा मुनाफा लेकर लाइसेंसों को किसी व्यापारी को बेच दिया और कहा—''देखो भाई, पैसा नकद चाहिए और मुझे नहीं चाहिए। मैं ठहरा साहित्यिक। मैं पैसा नहीं छूता। पैसा रहता है लक्ष्मी के पास और तुम जानो, लक्ष्मी होती है घरवाली। सो भाई, पाई-पाई मेरी पत्नी के पास पहुँचा देना। वह जाने, उसका काम जाने। अपन तो फकीर हैं।''

दोनों मित्र बोले, ''बस-बस, हो गया मूँगफली के तेल का डिब्बा आपका। वह आपकी लक्ष्मी यानी पत्नी के पास पहुँच जाएगा। आप तो उसे देखेंगे भी नहीं।''

फिर जो कहकहा उठा, उसकी गूँज आज भी हिंदी-साहित्य में गूँजती है।

□

आधा किलो सम्मान

सु प्रसिद्ध साहित्यकार विजय वर्मा के मन में कई दिन से धुकधुकी लगी हुई थी। वे जानते थे कि फोन आएगा इसीलिए निरंतर व्यूह-रचना में संलग्न थे।

आखिर फोन आ ही गया। उधर से आवाज आई—''मैं गृहमंत्री का निजी सचिव बोल रहा हूँ। आपको यह तो पता ही होगा कि इस बार गणतंत्र दिवस पर जिन व्यक्तियों को उपाधियाँ दी जाने वाली हैं, उनमें आपका नाम भी प्रस्तावित हुआ है। गृहमंत्री यह जानना चाहते हैं कि आपको कोई आपत्ति तो नहीं है।''

विजय वर्मा ने इसी क्षण के लिए तैयारी की थी। उत्तर दिया, ''आपने मेरा नाम प्रस्तावित किया है, इसके लिए मैं आपका आभार मानता हूँ; लेकिन आप मेरी ओर से मंत्री महोदय से यह निवेदन कर दीजिए कि मैं उनका यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं कर सकता।''

निजी सचिव ने पूछा, ''नहीं कर सकते? क्यों?''

विजय वर्मा ने उत्तर दिया, ''क्यों क्या? जो सरकार मुझे उपाधि दान करना चाहती है, उसमें मुझे जरा भी विश्वास नहीं है। जिसमें मुझे विश्वास नहीं है, उसके द्वारा सम्मानित होना मैं अपना अपमान समझता हूँ।''

निजी सचिव तनिक भी विचलित नहीं हुए। अत्यंत शांत-गंभीर स्वर में उन्होंने पूछा, ''आखिर आपको सरकार से क्या शिकायत है?''

विजय वर्मा ने और भी तीखे स्वर में उत्तर दिया, ''अजी एक शिकायत हो तो बताऊँ! सरकार साहित्य का तनिक भी सम्मान नहीं करती। वह उन्हें खरीद सकती है, सम्मानपूर्वक जीने नहीं दे सकती। आप जानते हैं, साहित्यिक कल्पना-जगत् में विचरनेवाला जीव होता है। वहीं से उसको खाद्य मिलता है, वहीं से उसको शक्ति प्राप्त होती है। उसी के आधार पर वह अपनी रचनाओं का भव्य

महल खड़ा करता है और वे रचनाएँ भावी राष्ट्र का निर्माण करती हैं। अतः यह आवश्यक है कि साहित्यकार पूर्ण रूप से मुक्त हो। जहाँ चाहे जाए। इसकी व्यवस्था भी सरकार को करनी चाहिए और सरकार व्यवस्था करती भी है; लेकिन साहित्यकारों के लिए नहीं, राजनीतिज्ञों के लिए, संसद् सदस्यों के लिए, पत्रकारों के लिए। इन क्षणजीवियों की सरकार को चिंता है, पर शाश्वत साहित्यकार का उसकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं। जी नहीं, मैं ऐसी सरकार से सम्मानित होना नहीं चाहूँगा।''

निजी सचिव तनिक भी विस्मित नहीं हुए। स्वर में मिठास घोलते हुए उन्होंने कहा, ''आपकी शिकायतें सही हैं, लेकिन शायद आप यह नहीं जानते कि सरकार आपकी ये शिकायतें दूर करने के लिए ही आपको यह उपाधि प्रदान कर रही है।''

विजय वर्मा अचकचाए, ''मैं समझा नहीं, आप कहना क्या चाहते हैं?''

निजी सचिव ने उत्तर दिया, ''इसमें समझने के लिए है क्या? हम आपको 'पद्मश्री' की उपाधि प्रदान कर रहे हैं। आप उसे स्वीकार कर लेंगे, तो फिर शिकायत कर ही नहीं सकेंगे।''

विजय वर्मा की समझ में अब आया। वे बड़े जोर से हँसे, इतना कि खाँसी आ गई। किसी तरह शांत होकर बोले, ''मानता हूँ आपकी बुद्धि को। आप सचमुच चाणक्य के वंशधर हैं।''

निजी सचिव ने अत्यंत नम्र स्वर में कहा, ''यह आपकी जर्रा-नवाजी है। आपसे ही सबकुछ सीखा है। मेरा मतलब है कि आपकी रचनाएँ पढ़कर ही बड़ा हुआ हूँ। आप मेरे गुरुतुल्य हैं। मेरा अनुरोध है कि आप 'पद्मश्री' की उपाधि स्वीकार कर लें।''

विजय वर्मा सहसा कुछ उत्तर न दे सके। अगर निजी सचिव देख पाते तो उन्हें कुछ आश्चर्य होता। विजय वर्मा तेजी से अपना सिर खुजला रहे थे। लेकिन बिना देखे ही निजी सचिव ने कहा, ''तो मैं आपकी स्वीकृति समझूँ?''

इस बार विजय वर्मा ने उत्तर दिया, ''जी···जी बात यह है, मैं सोचता हूँ···।''

''आप क्या सोचते हैं?''

''यही कि जब आप मुझसे यह उपाधि स्वीकार करने का अनुरोध कर ही रहे हैं तो फिर 'पद्मश्री' ही क्यों? न सही 'पद्मविभूषण', कम-से-कम 'पद्मभूषण' तो होना ही चाहिए।''

अब निजी सचिव की बारी थी। बड़े जोर से खिलखिलाकर हँसे और

बोले—"आपको सरकार से बहुत सी शिकायतें हो सकती हैं, लेकिन इस बात की शिकायत नहीं हो सकती कि सरकार के पास दृष्टि नहीं है, वह परखना नहीं जानती है। न्याय-तुला पर तौलकर ही वह सबको सबका प्राप्य देती है। आपके वजन के साथ 'पद्मश्री' की उपाधि ही का मेल बैठता है। वही आपको दी जा रही है। अच्छा, आपका बहुत-बहुत धन्यवाद।"

यह कहते हुए निजी सचिव ने टेलीफोन का संबंध तोड़ दिया। विजय वर्मा 'सुनिए तो, सुनिए तो' कहते रह गए। अगले दिन समाचार-पत्रों में विजय वर्मा का नाम 'पद्मश्री' पानेवालों में सबसे नीचे अंकित था। उन्होंने देखा, तिलमिलाए; पर जब बधाई देनेवालों ने आना शुरू किया तो वे निश्चय नहीं कर पाए कि रोएँ या हँसें।

□

व्यवस्था का राजदार

प्रथम श्रेणी के डिब्बे के 'सी' कक्ष के द्वार खोलकर युवती ने देखा कि एक बर्थ पर पुलिस कांस्टेबल लेटा हुआ है, दूसरी पर एक बच्चे के साथ एक वयोवृद्ध भद्र पुरुष अधलेटे-से कुछ पढ़ रहे हैं। उसने उन भद्र पुरुष के पास आकर कहा, ''कृपया ठीक से बैठिए। इस बर्थ पर तीन व्यक्ति बैठ सकते हैं।''

भद्र पुरुष ने पुस्तक से दृष्टि उठाकर युवती की ओर देखा, पूछा, ''और उस बर्थ पर कितने बैठ सकते हैं?''

युवती बोली उसी सहज भाव से, ''व्यवस्था का कोई राजदार नहीं होता।''

□

छोटी नोटबुक

एक दिन अचानक ही टी-हाउस में एक पुराने नाटककार की भेंट संगीत नाटक अकादमी के एक अधिकारी से हो गई। नाटककार ने शिकायत भरे स्वर में अधिकारी से कहा, ''आपने नाटकों पर गोष्ठी की, लेकिन मुझे श्रोता होने तक का सौभाग्य नहीं दिया।''

अधिकारी ने अचरज से उत्तर दिया, ''यह तो हो ही नहीं सकता कि नाटकों पर गोष्ठी हो और आपको न बुलाया जाए!''

''हुआ तो यही।''

''शायद निमंत्रण-पत्र डाक में गड़बड़ हो गया होगा। न भेजा जाना तो अकल्पनीय है।''

''मेरी डाक के गड़बड़ होने की बात भी उतनी ही अकल्पनीय है। तीस वर्ष से एक ही मकान में रहता आ रहा हूँ। हाँ, एक बात हो सकती है।''

''वह क्या?''

''आज दाँतों के डॉक्टर के पास जाने की तारीख थी। समय पर वहाँ उपस्थित हुआ, तो डॉक्टर बोले, 'आज तो आपको नहीं आना था।'

''मैंने कहा, 'आपने आज ही का समय दिया था और अपनी छोटी नोटबुक में लिखा भी था।'

''सुनकर डॉक्टर बोले, 'ओह, तो छोटी नोटबुक से बड़ी नोटबुक में उतारना भूल गया।' ऐसा लगता है, आपके दफ्तर में भी छोटी-बड़ी नोटबुकें हैं।''

□

प्रेरणा

वह माननीय साहित्यकार थे। किसी कॉलेज में भाषण देने के बाद एक विद्यार्थी उनके पास आया। अपनी 'ऑटोग्राफ बुक' आगे करके उसने प्रार्थना की, "सर, ऑटोग्राफ देने के साथ-साथ एक प्रेरणादायक वाक्य भी लिख दीजिए।"

माननीय साहित्यकार ने लिखा—"किसी के हस्ताक्षर मत माँगो, काल की छाती पर अपने हस्ताक्षर करो।"

विद्यार्थी ने वह वाक्य पढ़ा, गद्गद हो उठा। दूसरे ने पढ़ा, तीसरे ने पढ़ा, चौथे ने पढ़ा। सब गद्गद हो उठे। दो क्षण बाद आश्चर्यचकित उन माननीय साहित्यकार ने पाया कि सैकड़ों विद्यार्थियों ने उन्हें घेर लिया है। वे कह रहे हैं, "सर, ऐसा ही एक प्रेरणादायक वाक्य हमारी 'ऑटोग्राफ बुक' में लिख दीजिए न! प्लीज सर···प्लीज···।"

□

पहचान

वह 'आन्ना केरेनिना' फिल्म देखकर लौट रहा था। ग्रेटा गारबो के भावपूर्ण अभिनय से उसका मन अभिभूत था। काफी रात बीत चुकी थी। ताँगेवाला भी जल्दी में था, इसीलिए घोड़ा दौड़ रहा था और सड़क बहुत तेजी से पीछे छूट रही थी। शायद इतनी ही तेजी से ग्रेटा गारबो ट्रेन के आगे गिरी थी।

सहसा घोड़ा ठिठका। देखा, बुरका पहने एक बालिका खड़ी है, उसके पीछे खड़ा है एक अल्हड़ बालक। कह रहा है, "तीन पैसे देंगे, ले चलोगे?"

"नहीं।" ताँगेवाले ने उपेक्षा से कहा और घोड़े को टिटकारी दी, पर बालक अकड़ गया, "नहीं ले चलोगे?"

इसपर ताँगेवाले ने जो मुद्रा बनाई, उसे देखकर उसे हँसी आ गई। कहा, "बैठा लो भाई, बच्चे हैं।"

दोनों ऊपर आ गए। बालक उछलकर एक कोने में बैठ गया। बहन से बोला, "तुम यहाँ बाबूजी के पास बैठो।"

बालिका ने कहा, "नहीं, यहाँ तुम बैठो, मैं कोने में बैठूँगी।"

बालक जिद पर था। बालिका झिझक रही थी। मुसलमान होकर वह हिंदू युवक के पास कैसे बैठ सकती थी, लेकिन उसे बैठना पड़ा। उसका संकोच देखकर उसे आश्चर्य नहीं हुआ। वह हिंदू था और उन दिनों…।

बालिका ने बुरका उठाकर उसकी ओर देखा। वह पठान थी। अवस्था होगी चौदह-पंद्रह वर्ष, पर रूप की जैसे प्रतिमा हो। वैसा ही सुमिष्ट था उसका स्वर।

बोली, "भाईजान, आप कहाँ जा रहे हैं?"

तब तक वह न जाने कहाँ पहुँच गया था। क्या-क्या प्रिय-अप्रिय सोच गया था। 'भाईजान!' संबोधन सुनकर काँप उठा। यह सजगता, यह अवस्था। उत्तर

दिया, ''काजीहौज जा रहा हूँ।''

वह मुस्कराई, ''वहीं तो हम रहते हैं भाईजान, लालकुएँ के पास।''

बालिका अब सहज भाव से बातें कर रही थी और वह 'भाईजान' शब्द उसे हर बार नई चेतना से भर जाता था। गंतव्य स्थान पर जब ताँगा रुका तो लड़की ने बुरका डाल लिया। उसने कहा, ''बहुत देर हो गई है, मैं तुम्हारे साथ चलूँ?''

बालिका ने फिर बुरका उठाया और कहा, ''भाईजान, हम तो रोज ही आते हैं।''

और मानो कृतज्ञता से भरकर वह मुस्करा उठी। मुड़ते हुए उसने निहायत अदब से कहा, ''सलाम भाईजान।''

वह चली गई, लेकिन जन्म-जन्म के लिए उसके मन पर अपनी पहचान अंकित कर गई।

□

किस्मत की फाइल

कुछ कारणों से सोलह वर्ष की आयु में ही प्रमोद को सरकारी पशुपालन फार्म पर दफ्तरी की नौकरी करनी पड़ी थी। वेतन अठारह रुपए प्रतिमास था। लेकिन शीघ्र ही वह चालीस रुपए मासिक पर क्लर्क बन गया। उन्हीं दिनों अचानक कार्यालय के रिकॉर्डकीपर लंबी छुट्टी पर चले गए और उसे उसके स्थान पर नियुक्त कर दिया गया। एकदम अनभिज्ञ, अनाड़ी उस काम को सीखने का प्रयत्न कर पाता कि खर्च में कमी करने का उपाय सुझाने के लिए सरकार ने एक रिट्रेंचमेंट कमेटी की घोषणा कर दी। उस युग के तीन प्रभावशाली राजनीतिक नेता उसके सदस्य थे। सरकारी कर्मचारी उनके नाम से काँपते थे। किसी भी क्षण कोई सी भी फाइल वे मँगा भेजते थे।

अचानक एक दिन उन्होंने एक बहुत पुरानी फाइल, जिसमें फार्म के तत्कालीन खर्च का ब्योरा था, माँग ली। अंग्रेजी में उसका नाम 'एप्रोप्रिएशन ऑफ एकाउंट' ऐसा ही कुछ था। प्रमोद पंजाब का मैट्रिक, फिर विशेष रूप से अंग्रेजी में कमजोर, इस शब्द का अर्थ तक नहीं जानता था। बड़े बाबू ने तुरंत वह फाइल लाने को कहा तो सच मानिए वह शून्य में खो गया। घबराया बिलकुल नहीं। वस्तुतः घबराने जैसी संज्ञा ही नहीं रही थी। चुपचाप कुरसी पर आ बैठा। पहले पन्ने पर ही एकाउंट्स की फाइलों की सूची थी। उसके 'सी' विभाग में एप्रोप्रिएशन से मिलता-जुलता एक शब्द दिखाई दिया। उसने दफ्तरी को आज्ञा दी कि 'सी' विभाग की सभी फाइलें तुरंत ले आए।

कुछ क्षण बाद वह देखता है कि उसके दोनों ओर उससे भी ऊँचे फाइलों के कई ढेर लगे हैं। एक क्षण उनको देखा। फिर बड़े बाबू की तीव्र आवाज सुनी—"फाइल तुरंत लाओ।"

उस क्षण जैसे वह था ही नहीं। यंत्रवत् उत्तर दिया, "अभी लाता हूँ।"

उसने फिर फाइलों के ढेर पर एक दृष्टि डाली। कुछ फाइलें आड़ी-तिरछी हो रही थीं। वह उन्हें ठीक करने लगा। उनमें कुछ फाइलें थीं, जिन्हें वह इधर से ठीक करता तो उधर से झाँकने लगतीं। सहसा वह खीझ उठा और उन्हें खींचकर बाहर निकाल लिया कि तभी बड़े बाबू ने फिर आवाज दी। वह अतिशय क्रुद्ध थे—''इतनी देर हो गई, एक फाइल नहीं निकाल सके, क्या करोगे?''

उसी तरह शून्य में डूबा-डूबा वह उनके पास पहुँचा। हाथ में उन्हीं में से एक फाइल रह गई थी। बड़े बाबू ने तुरंत वह फाइल छीन ली। उसे देखा। उनकी आँखें अद्भुत रूप से चमक उठीं, ''ठीक, यही तो फाइल चाहिए थी। मुझे भी इसकी याद नहीं रही थी। तुम कैसे निकाल लाए? शाबाश!''

वे विजयी खिलाड़ी की भाँति अंदर की ओर भागे चले गए और वह शून्य के अतल में डूबा-डूबा सोचता रहा कि यह हँसने का अवसर है या रोने का?

□

नाम और काम

बहुत पुरानी बात है। तब की, जब लोग घोड़ों पर चढ़कर तलवारों से लड़ा करते थे। इन्हीं दिनों एक देश की सेना ने दूसरे देश की सेना पर हमला कर दिया। कई दिन तक खूब लड़ाई हुई। दोनों तरफ के बहुत से सिपाही मारे गए या घायल हुए। एक दिन ऐसा हुआ कि एक ओर के सेनापति को दूसरी ओर के सैनिकों ने घेर लिया। सेनापति बिलकुल अकेले थे, बड़ी वीरता से लड़े, लेकिन बहुत से सैनिकों के सामने उनकी कुछ न चली। वे घायल होकर गिर पड़े।

संयोग की बात, ठीक इसी समय उनका एक सिपाही वहाँ आ पहुँचा। उसने दुश्मनों के सैनिकों से मुकाबला किया। बड़ी बहादुरी से लड़ते हुए उनको पीछे धकेल दिया। इतना ही नहीं, उसने अपने सेनापति को उठाकर घोड़े पर बैठाया और दुश्मनों के हमले का मुकाबला करता हुआ अपनी छावनी की ओर लौट चला।

कैसा बहादुर था वह सिपाही! दुश्मन के बहुत से सैनिक भी उसका कुछ बिगाड़ नहीं सके। वह अपने सेनापति को सकुशल अपनी छावनी में ले आया। सेनापति घायल तो थे, लेकिन होश में थे, सैनिक की बहादुरी से वे बहुत प्रभावित हुए। अपने तंबू में पहुँचकर उन्होंने सैनिक को धन्यवाद दिया और पूछा, ''तुम्हारा नाम क्या है भाई?''

उस साहसी सैनिक ने बड़े विनम्र शब्दों में उत्तर दिया, ''जनाब, मेरे काम से मेरे नाम का कोई संबंध नहीं। मैंने यह काम इनाम पाने के लिए नहीं किया है।''

यह कहकर वह तुरंत वहाँ से चला गया। सेनापति हक्के-बक्के उसको देखते ही रह गए। जब वे स्वस्थ हो गए तो उन्होंने उसका पता लगाने की बहुत कोशिश की, लेकिन वे कभी नहीं जान सके कि उनको बचानेवाला वह कौन था। □

आँखों देखा झूठ

आँख से जो देखा जाता है उसी को सत्य प्रमाण मानते हैं; लेकिन उस दिन जो कुछ देखा, वह चकित करनेवाला था। कार्यालय में घर से फोन आया कि कॉलेज के कुछ विद्यार्थी मिलने आए हैं। मैंने उत्तर दिया, ''उनसे कहो, मेरे लौटने तक रुकें या थोड़ी देर बाद फिर आएँ। मैं आध-पौन घंटे में पहुँचने वाला हूँ।''

सौभाग्य से शीघ्र ही छुट्टी मिल गई और वाहन भी। बीस-बाईस मिनट में घर पहुँच गया और जीने पर चढ़ते हुए पाया कि दो युवक सोफे पर बैठे हैं और फर्श पर उनके सामने बैठी मेरी पत्नी उनसे बातें कर रही है। मुझे देखकर वे दोनों खड़े हो गए और हाथ जोड़कर नमस्कार किया। मैंने उपेक्षा से उनकी ओर देखा, नमस्कार का उड़ता हुआ उत्तर दिया और उनके पास से होकर दूसरे कमरे में चला गया। कपड़े बदलने में जरूरत से ज्यादा देर लगाई और सोचता रहा कि किसी तरह इन लड़कों को टाल देना होगा, लेकिन जैसे ही मैं उस कमरे में लौटा तो चकित रह गया कि उनमें से एक युवक मेरे एक परम मित्र का लड़का था और मेरी पत्नी उससे आत्मीयता से बातें कर रही थी। मैंने अचकचाकर कहा, ''अरे तुम! इतनी देर में कहाँ से आ गए? और वे लड़के कहाँ गए?''

मेरी बात सुनकर वे सब हँस पड़े और युवक बोला, ''चाचाजी, मैं तो यही सोच रहा था कि आपको क्या हुआ है? मैंने कौन सी गलती की जिससे आप इतने नाराज हो गए कि इतने वर्षों के बाद आने पर भी ऐसी बेरुखी दिखाई?''

मैं जैसे पानी-पानी हो चला था। कहा, ''मुझे बहुत दुःख है भाई, मैं तो यह समझ रहा था कि यहाँ के कॉलेज के लड़के बैठे हैं। तुम्हारी तो कल्पना भी नहीं थी।''

पत्नी बोली, ''वे तो तभी चले गए थे। कल आएँगे। मैं स्वयं सोच रही थी

कि यह सब क्या हो रहा है ? आपने तो देखकर भी नहीं देखा।''

परिस्थिति सबकी समझ में आ गई थी। बहुत देर तक हम उसी पर चर्चा करते रहे कि आखिर आँखों पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता। वस्तुतः कभी-कभी आँखें वही देखती हैं, जो मन और मस्तिष्क उसे देखने के लिए कहते हैं।

□

बिंध गया सो मोती

उस दिन सप्रू हाउस में नृत्य का कार्यक्रम था। मुझे समय का ध्यान नहीं रहा। जब तक ध्यान आया, काफी देर हो चुकी थी और समय पर पहुँचना कठिन नजर आ रहा था। सोचा न जाऊँ, लेकिन कार्यक्रम बहुत आकर्षक था, इसलिए चल पड़ा। बाहर आकर देखता हूँ कोई सवारी नहीं। बड़ी देर बाद एक ताँगा नजर आया। कूदकर उसमें बैठ गया। कहा, ''तुरंत सप्रू हाउस चलो।''

ताँगेवाले ने घोड़े को टिटकारी देते हुए मेरी ओर देखा और कहा, ''क्यों बाबूजी, बहुत अच्छा ड्रामा है?''

मैंने उत्तर दिया, ''नहीं भाई, ड्रामा नहीं है।''

''तो क्या गाना है? कौन गा रहे हैं?''

फिर उसने सभी प्रसिद्ध संगीतज्ञों के नाम गिना दिए। मैं चकित होकर उसकी ओर देखता रहा। कहा, ''तुम्हें गाने का बड़ा शौक है?''

वह मुस्कराया, ''जी, शौक कभी था। किसका गाना नहीं सुना? कितनी रातें गाना सुनते नहीं बिताईं?''

वह बहुत कुछ कहता रहा और मैं सुनता रहा। सोचता रहा, यह ताँगेवाला क्या सचमुच कला-प्रेमी है या इधर-उधर से सुनकर नाम याद कर लिये हैं। हो सकता है सिनेमा देखने का बड़ा शौकीन हो; और अचानक मैं पूछा पैठा, ''तब तो तुम सिनेमा बहुत देखते होगे?''

जैसे मैंने उसका घोर अपमान किया हो, मुँह में कड़वाहट भरकर उसने कहा, ''छिह, सिनेमा भी कोई देखने की चीज है?''

मैं हतप्रभ रह गया। बोला, ''क्यों?''

उसने शांत स्वर में कहा, ''बाबूजी, सिनेमा में कला नहीं होती, कारीगरी

होती है। सैकड़ों बार प्रैक्टिस करने पर जब कभी एक बार अच्छा अभिनय हो जाता है तो उसी को वे फिल्म में भर लेते हैं, लेकिन ड्रामे में हर बार अभिनय करना होता है। जब भी अभिनय खराब होगा, ड्रामा खराब हो जाएगा। इसलिए कलाकार को हमेशा कलाकार रहना होता है।''

मैं क्या कहूँ, मेरे मन की क्या स्थिति थी। देखता ही रह गया। इस कला में होकर भी यह अंतर शायद मेरी दृष्टि में नहीं आया था।

□

दो बच्चों का घर

कमता बाबू का घर मानो अंतरराष्ट्रीय संघ हो। अनेक घररूपी राष्ट्रों की प्रतिनिधिस्वरूप बहू-बेटियाँ वहाँ मीटिंग जोड़तीं, अनेक समस्याओं पर विचार करतीं और बड़ी गंभीरता के साथ अपना निर्णय देतीं। सुनंदा के लड़के के जंठौन पर जो कच्ची और पक्की दो ज्योनारें हुई थीं, उसको लेकर वहाँ कई दिन तक वाक्-युद्ध होता रहा। आज भी होने वाला था कि आँखों में आँसू भरे हरीश मास्टर की पत्नी सुनयना वहाँ आ गई।

कला ने देखा। पूछा लिया, "क्या बात है जीजी?"

चरखा रोककर सुनंदा ने कहा, "बच्चे तो ठीक हैं? मास्टर साहब से फिर लड़ाई हुई क्या?"

सुनयना अनमनी-सी बोली, "जीजी, घर में यह रोज की दाँता-किलकिल⋯।"

वह आगे बोल न सकी। मन भर आया। तब तक सबका काम रुक गया था। शांता ने गंभीर होकर कहा, "यह तो ठीक है जीजी। पढ़े-लिखों के घर में भी कलह हुई तो⋯।"

"ना भाभी, पढ़ाई का संबंध अक्ल से नहीं होता। पढ़ाई तो पेट भरने का साधन है।" दया बोल उठी।

सुनयना ने कहा, "न जाने कॉलेज में कैसे निभती होगी? इतने पुराने खयाल हैं। बोलते हैं जैसे खा जाएँगे। दो-दो बच्चों का घर है। इधर से उधर, उधर से इधर करते रहते हैं।"

शांता अब तक चुप थी। स्वेटर में फंदा डालते-डालते पूछ बैठी, "पर हुआ क्या?"

"कुछ हो तो कहूँ शांता। कूड़े में चक्कू डाल आई थी लता। मैं उठा लाई।"

"तो फिर?" स्तब्ध वातावरण में सुनंदा का स्वर गूँजा।

"फिर क्या, वे वहीं खड़े थे। एकदम चिल्ला पड़े, 'अब इसका क्या करोगी?' मैंने कहा, क्यों क्या बिगड़ गया है इसका। वे और भी चीखकर बोले, 'इतनी भी समझ नहीं। कूड़े से उठाकर चौके में ले जाओगी काठ के चाकू को।' "

दया बोली, "मास्टर साहब ने कहा यह?"

"हाँ-हाँ, उन्होंने कहा जो कॉलेज में पढ़े हैं।"

"आग लगे ऐसी अक्ल को," शांता ने फिर फंदा रोककर कहा, "दो-दो बच्चों का घर है। गरम पानी से धोया और···।"

"यही तो जीजी, यही मैंने कहा तो बरस पड़े। चाकू फेंक दिया।"

सुनंदा ने चरखा घुमाते-घुमाते कहा, "ऐसा भी क्या विचार! बरसने दे, तू रोती क्यों है?"

"एक दिन की बात हो तो न रोऊँ। रोज-रोज का महाभारत···।"

"पर बच्चों के घर में रोना अशुभ होता है।" दया ने मानो निर्णय दिया।

तभी विनोद की उँगली पकड़े-पकड़े लता वहाँ आ गई। सुनयना ने गीले नयनों से उन्हें देखा कि विनोद गोद में आ चिपका और धीरे-धीरे कान में बोला, "माँ, बीबी चाकू लाई है।"

सुनयना चिहुँक उठी, "चाकू? चाकू उठा लाई तू···।

विनोद जोर से बोला, "नहीं माँ, जीजी नया चाकू लाई है।"

लता तब तक सिमटी-सकुची माँ से सट गई थी। अनबूझ सुनयना ने जेब में हाथ डाला, चाकू निकाल लिया। एकदम नया चाकू था। मुख पर एक के बाद एक न जाने कितने भाव आए। स्तब्ध-सी बोली, "तू नया चाकू लाई, अपने डिब्बे से अपने पैसे निकालकर।"

लता ने किसी तरह स्वीकृति में सिर हिला दिया और रो पड़ी।

सुनयना सहित वे सब उसे देखे जा रही थीं, देखे जा रही थीं।

□

ममता

वसंत का एक विकसित प्रभात था।

पुष्प-वाटिका में यौवन की बाढ़-सी आ गई थी। उसमें डूबते-उतराते अनेक फूल जहाँ-तहाँ खिल आए थे। परोपकारी समीर उस मदमस्ती की सुगंध को चारों ओर ढोए लिये जा रहा था तभी यौवन को आँचल में समेटे कई युवतियाँ वहाँ आ गईं।

एक बोली, "मल्लिका रानी—पुष्प की सुंदरता कितनी क्षणिक है?"

"तुम जानती नहीं, माधवी" मल्लिका ने कहा, "जो क्षणिक है वही आनंद है। अमरता तो थका देनेवाली है।"

और हँसते-हँसते उसने एक फूल तोड़ा, मसला, सूँघा और फेंक दिया।

"हाँऽऽ"—मालती जैसे काँप आई, "क्या किया तुमने?"

वह अट्टहास कर उठी, "उसकी उपयोगिता जो थी, उसे सार्थक किया मैंने।"

उसने फिर फूल तोड़े और चुन-चुनकर मालती के जूड़े में जड़ दिए।

फूल रोए नहीं। हँस-हँस के आगे झुक आए; परंतु आम्र-वृक्ष की ओट में जो एक फूल झूल रहा था, उसे यह सब पसंद नहीं आया। विद्रूप के साथ उसने अपने साथी से कहा, "सौंदर्य भी कितना मोहक काँटा है!"

साथी मुस्कराकर रह गया।

: २ :

एक दिन फिर बगीचे में चहल-पहल मच आई।

राजकीय वरदी में आकर कुछ सैनिक बोले, "इस देश के राजराजेश्वर अनेक देशों पर विजयी होकर इस रास्ते से लौट रहे हैं। फूलों द्वारा हम उनका

स्वागत करेंगे।''

तब अनेक फूल आगे बढ़ गए—''हमारे प्राणों से राजा का अभिषेक हो। हम धन्य हैं।''

सचमुच उसी रास्ते से राजराजेश्वर लौटे। जनता के जय-जयकार से वायुमंडल गूँज उठा। छज्जों से युवतियों ने पुष्प बरसाए। पँखुड़ियाँ हो-हो कर अनेक मुस्कराते हुए फूल धूल में लोटने लगे। हाथी-घोड़े उन्हें रौंदते हुए चले गए। उनका शरीर चूर-चूर होकर मिट्टी में अपना अस्तित्व खो बैठा।

आम्र-वृक्ष की आड़ में झूलनेवाले पुष्प ने यह दृश्य देखा। उसका रोम-रोम घृणा से भर आया। साथी से वह बोला, ''कितनी अंधी है यह शक्ति। खून में स्नान करके भी वह हँस देती है।''

साथी अब भी नहीं बोला।

: ३ :

एक सुनहरी संध्या को फिर कहीं दूर विजय-दुंदुभी बज उठी।

आम्र-वृक्षवाले फूल के अतिरिक्त सभी फूलों के मुख पर मुस्कराहट दौड़ गई। वे उतावले-से होकर झूम-झूम आए। अजीब दीवानों की टोली थी। वे पागल हो रहे थे। उनकी गति में स्फूर्ति थी। उनकी आँखें उस मार्ग पर थीं, जहाँ जीवन की माँग है। अचरज और भय से प्रतिहत होकर उसने अपने साथी से पूछा, ''ये कौन हैं?''

''अरे! तुम नहीं जानते?'' उसके साथी ने कहा, ''ये देश-दीवाने हैं।''

''वे भी हमें चाहते हैं?''

''हाँ! इनके हाथों मृत्यु पाकर कौन धन्य न होगा!''

सुनकर वह फूल काँप उठा। बोला—''पर मैं ऐसा नहीं मानता। दूसरे का जीवन लेकर जिसे सुख होता है, वह राक्षस है।''

साथी ने उसे दया भरी दृष्टि से देखा और आगे बढ़कर उन दीवानों से कहा, ''मृत्यु के उपासको! मैं तुम्हारा अभिषेक करूँगा।''

दूसरा बोला, ''तुम्हारे मार्ग की चरण-रज पर मैं अपना जीवन लुटा दूँगा।''

तीसरे ने कहा, ''हम तुम्हारी कब्र पर भी पहरा देंगे और इस कहानी को अमर कर देंगे।''

ऐसे ही चौथा, पाँचवाँ बोला, पर वह बच-बचकर ही झूलता रहा। उसने अपने को आम्र-वृक्ष के पीछे खूब छिपा रखा था।

मस्ताने युवक अपने नायक पर फूल बरसाते हुए चले गए।

: ४ :

समय के पंख लगाकर दिन उड़ते रहे। वाटिका अब खाली थी। उस निर्जनता का वह अकेला स्वामी था।

लेकिन उस उदासी में भी वह हँसता और गाता। कभी-कभी समीर भी उसके साथ आँख-मिचौली खेलने आ जाता। कभी-कभी भौंरे भी चुंबन की छाप लगा जाते। कभी-कभी आम्र-वृक्ष भी पूछ लेता, "अब जीवन कैसा लगता है फूल?"

"बहुत सुंदर दादा।"

पर कहकर जैसे उसका जी उखड़ने लगता। जी में उठता—'अरे, कोई आता!'

एक दिन उसने आम्र-वृक्ष को पुकारा, "दादा! दादा!"

"कहो।"

"जी नहीं लगता दादा। बात करोगे?"

दादा बोला, "भला मुझे फुरसत कहाँ है फूल! अब कोयल का गाना सुन रहा हूँ फिर माली को आमियाँ दूँगा। पथिक का भी सत्कार करना है।"

फूल का कोमल मन कुम्हला सा गया। फिर जल्दी ही बुढ़ापे की झुर्रियों से उसका शरीर भरने लगा। समीर आता तो, पर खिंचा-खिंचा चला जाता। बोलता भी नहीं। भौंरों ने रास्ता ही बदल लिया।

अब वह क्या करे?

'एक दिन फिर उसने आम्र-वृक्ष को पुकारा, "दादा, सुनते हो?"

"क्या है फूल?"

"हाँ दादा, मैं ही हूँ। तुम भी भूल गए क्या?"

"नहीं रे, तू कह तो क्या कहता है?"

फूल ने कहा, "दादा! इस जीवन को मैंने खूब बचाकर रखा, पर आज यही भारी जान पड़ रहा है, जैसे मैं इससे छुटकारा पा जाऊँ।"

आम्र दादा हँस पड़ा, "मैं क्या कहूँ फूल।"

"कुछ भी हो, दादा! मैं अब जी न सकूँगा। मुझे डर लगता है।"

"बस, फूल। यही मैं कहता हूँ, तू डर मत। तब तू आप ही समझ लेगा।"

लेकिन फूल नहीं समझा। वह अधिक जी भी नहीं सका। एक दिन आप ही आप जमीन पर आ गिरा। तब अचानक ही उसके नेत्र खुल गए। चिल्लाकर उसने आम्र दादा को पुकारा, "दादा! दादा!"

दादा ने झुककर देखा—फूल पगडंडी पर पड़ा है। वह द्रवित हो उठा, ''तुम्हें क्या हुआ बेटा?''

''रो मत दादा।'' फूल वहीं से बोला, ''आज मैंने जाना है, मैं किसी के काम नहीं आया, पर अब समय निकल गया। मैं जा रहा हूँ। काश! मैं किसी के लिए जीवन दे पाता···।''

और उसकी आँखें मुँद गईं।

आम्र दादा की अनुभवी आँखों से दो बूँद जल टपक पड़ा।

□

धर्मराज के अवतार

धर्मराज के अवतार के रूप में उनकी प्रसिद्धि अक्षुण्ण थी। बिक्री कर अधिकारी तक उनके प्रशंसक थे। वर्ष-पर-वर्ष बीत रहे थे, कोई भी अधिकारी उनके द्वारा प्रस्तुत हिसाब में शंका करने का कोई कारण नहीं खोज सका था। व्यापार जगत् में कहा जा सकता है यह एक अपवाद ही था, फिर भी यह एक चर्चा का विषय बना हुआ था।

अचानक एक दिन व्यवधान उपस्थित हो गया। नए कर अधिकारी ने उनके हिसाब में गहरी जाँच-पड़ताल के बाद उनपर दस हजार रुपए का कर लगा दिया।

वे जैसे आसमान से गिर पड़े। 'धर्मराज के अवतार' का उनका विरुद खतरे में पड़ गया था। इस कलंक को धोने के लिए उन्होंने अधिकारी से बार-बार बातचीत की। समझाने की कोशिश की कि उनके द्वारा प्रस्तुत हिसाब अक्षरश: सही है। वे कभी झूठ नहीं बोले, झूठ नहीं लिखा। उनसे पहले कभी किसी अधिकारी ने उनपर आरोप नहीं लगाया है।

अधिकारी हर बार मुस्कराकर उत्तर देता, "मैं जानता हूँ, पर मैंने भी जो कर लगाया है, वह सही है।"

अंतत: जब उन्हें किसी भी तरह सफलता नहीं मिली तो उन्होंने मित्रों और वकीलों की शरण ली। गहरी मंत्रणा के बाद एक मार्ग खोज निकाला गया, जिससे होकर बीस हजार रुपए उन कर अधिकारी की पत्नी के पास पहुँचे। उसके बाद अधिकारी ने अपनी आपत्ति आप ही रद्द कर दी। वह गद्गद थे, उनका 'धर्मराज के अवतार' विरुद अब सुरक्षित था।

भाव-विह्वलता के उन क्षणों में उनके एक अंतरंग मित्र यह पूछे बिना न रह सके, "मैं समझ नहीं पा रहा कि आपने दस हजार रुपए कर के रूप में क्यों नहीं दे दिए। बीस हजार रुपए की रिश्वत क्यों दी?"

मित्र की करुणा को देखते हुए वे बोले, ''मेरे भोले भाई! दस हजार रुपए कर के रूप में दे देता तो मेरा 'धर्मराज के अवतार' वाला विरुद छिन न जाता। उसकी रक्षा तो मुझे किसी भी कीमत पर करनी ही थी। मुझे खुशी है कि मैं ऐसा कर सका।''

☐

मणि का प्रभाव

पूर्व मालव देश में रथपुर नाम का एक नगर था। वहाँ शूरदत्त नाम का एक सेठ रहता था। शूरदत्ता उसकी पत्नी थी 'अत्यंत गुणवती'। इन दोनों के शूरमित्र और शूरचंद्र नाम के दो पुत्र थे। वे अत्यंत सुंदर थे। एक पुत्री थी, जिसका नाम मित्रवती था। कुछ समय बाद सेठ शूरदत्त का स्वर्गवास हो गया। उसी के साथ उसकी संपत्ति भी नष्ट हो गई। निर्धन हो जाने पर दोनों भाई धन कमाने के लिए सिंहल दीप चले गए। बारह वर्ष के बाद उन्हें एक अमूल्य मणि मिली। उसको लेकर वे रथपुर की ओर लौट चले। मार्ग में एक स्थान पर वे ठहरे। बड़ा भाई मणि को लेकर वहीं रहा। छोटा भाई भोजन के लिए ग्राम में चला गया। उसके पीछे बड़े भाई के मन में आया कि यदि मैं छोटे भाई को मार डालूँ, तो यह अमूल्य रत्न मेरा हो जाएगा। कई क्षण तक वह मारने की कल्पना करता रहा, लेकिन तभी सहसा उसे ज्ञान हुआ कि अरे, मैं पिता के समान हूँ। इस मणि के लिए पुत्रसम अपने छोटे भाई को मार डालना चाहता हूँ।

उसी समय शूरचंद्र भोजन सामग्री लेकर आ गया। दोनों भाई भोजन करके आगे चल दिए। दूसरे दिन छोटा भाई मणि लेकर वन में रहा और बड़ा भाई शूरमित्र भोजन लेने नगर की ओर गया। उस समय छोटे भाई ने भी सोचा कि यदि बड़े भाई को मार डालूँ तो यह मणि मेरे पास ही रह जाएगी। लेकिन दूसरे ही क्षण उसको अपने विचार पर पश्चात्ताप हुआ। तभी भोजन सामग्री आ गई और दोनों भाई खा-पीकर नदी के तट पर बैठ गए। बैठे-बैठे बड़े भाई ने छोटे भाई शूरचंद्र से कहा, "भैया, मैं यह मणि नहीं चाहता। तुम ही इसे ले लो।"

शूरचंद्र को बड़ा आश्चर्य हुआ। हाथ जोड़कर उसने कहा, "भाई साहब! इस मणि में मेरा और आपका बराबर भाग है, आप इसे मुझे क्यों दे रहे हैं? सच बताइए।"

यह सुनकर शूरमित्र का हृदय स्नेह से भर आया और उसने अपने मन की बात कह डाली। बड़े भाई की बात सुनकर छोटा भाई बोला, "भाई साहब! आप सच कहते हैं। मेरे मन में भी ऐसे ही विचार उठे थे। यह मणि अनर्थ की जड़ है, इसे फेंक देना चाहिए।"

और वे उस मणि को नदी में फेंककर घर लौट आए। उधर वह मणि नदी में गिरी तो एक मछली ने निगल ली। धीवर ने उस मछली को पकड़ा और बाजार में ले गया। अकस्मात् तभी उन दोनों भाइयों की माँ उनके लिए मछली लेने बाजार आई। उसने वही मछली खरीदी। घर ले जाकर जब उसे चीरा तो वह मणि निकल आई। आश्चर्यचकित होकर उसने उस मणि को हाथ में ले लिया तो तुरंत उसके मन में यह विचार आया कि यदि मैं अपने दोनों लड़कों और लड़की को मार डालूँ तो फिर इस रत्न को लेकर सुख के साथ घर में रहूँगी। लेकिन दूसरे ही क्षण उसे बहुत दुःख हुआ, 'भला मैं माँ होकर अपनी संतान को कैसे मार सकती हूँ।'

और इस पश्चात्ताप से प्रेरित होकर उसने वह मणि अपनी पुत्री को दे दी। जैसे ही मणि मित्रवती के हाथ में पहुँची, उसकी बुद्धि भी जड़ हो गई और उसने माँ और भाइयों को विष देने का विचार किया। लेकिन दूसरे ही क्षण उसे भी अपने ऊपर बड़ी ग्लानि हुई—'नहीं-नहीं, ऐसी अशुभ बात मेरे मन में क्यों आई? इस मणि के कारण ही न।'

और उसने वह मणि अपने भाइयों को दे दी। वे उसे पहचान गए। रात के समय शूरदत्त ने अपने बड़े पुत्र से पूछा, "बेटा, बारह वर्ष में तुम क्या कमाकर लाए हो?"

उत्तर में उसने मणि की सारी कहानी माँ को सुना दी।

माँ बोली, "वही मणि मछली के पेट से मुझे मिली। मेरे मन में वैसे ही विचार आए, जैसे तुम दोनों के मन में आए थे। तब मैंने उसे मित्रवती को दे दिया।"

मित्रवती बोली, "सच माँ, मेरे मन में भी ऐसे ही खराब विचार आए, इसलिए इस भयंकर मणि को मैंने भाइयों को दे दिया था। सोचती हूँ, मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए था।"

जब सब अपनी कहानी कह चुके तो सबके मन पवित्र हो गए। उस मणि को उन्होंने एक साधु को दे दिया और कहानी भी सुना दी।

□

धन्य है आपकी परख

बहुत पुरानी बात है। एक गड़रिया था। वह अपनी भेड़-बकरियों को लेकर नदी किनारे घूम रहा था। अचानक उसने देखा कि एक पत्थर चमक रहा है। उसने उसे उठा लिया और घर ले चला। मार्ग में उसे एक बनिया दिखाई दिया। गड़रिए ने वह पत्थर उसे दिखाया। बनिया उसे देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और बोला, ''क्या तुम इसे बेचोगे?''

गड़रिया बोला, ''हाँ-हाँ, एक सेर गुड़ दें तो आप इसे ले सकते हैं।''

बनिए ने खुशी-खुशी एक सेर गुड़ दे दिया और वह पत्थर अपनी दुकान पर सजाकर रख दिया। कुछ दिन बाद एक व्यापारी ने उस पत्थर को देखा और एक रुपए में खरीद लिया। उसने भी उसे अपनी दुकान पर सजाकर रख दिया। सभी जानते थे कि यह एक सुंदर पत्थर है, लेकिन एक दिन अचानक एक जौहरी उस बाजार में आया और उसने व्यापारी की दुकान पर उस चमकदार पत्थर को देखा। वह व्यापारी से बोला, ''यह पत्थर मुझे दे सकते हो?''

व्यापारी ने उत्तर दिया, ''हाँ-हाँ, क्यों नहीं।''

जौहरी ने पूछा, ''क्या लोगे?''

व्यापारी ने उत्तर दिया, ''पाँच रुपए दे दीजिए।''

जौहरी बोला, ''पाँच रुपए तो बहुत हैं। मैं तुम्हें इस पत्थर का एक रुपया दे सकता हूँ।''

व्यापारी बोला, ''आगे जाइए। एक पैसा कम नहीं होगा।''

जौहरी ने कहा, ''अच्छा दो रुपए ले लो।''

और इस प्रकार जौहरी उसका मूल्य बढ़ाता रहा। पहुँचते-पहुँचते वह चार रुपए निन्यानबे पैसे तक पहुँच गया, केवल एक पैसे का अंतर रह गया, लेकिन व्यापारी अपनी बात पर दृढ़ था। उसने कहा, ''दे सकते हो तो पूरे पाँच रुपए दे दो,

नहीं तो अपना रास्ता लो।"

एक पैसे की कोई बात नहीं, लेकिन बात की पख पड़ गई थी। जौहरी आगे बढ़ गया। सोचा, अभी घूमकर आता हूँ। इस पत्थर को कौन लेगा। इसे यहाँ कौन पहचानता है। यह व्यापारी अभी मुझे पुकारेगा और पत्थर मुझे देगा।

कुछ देर बाद ऐसा हुआ कि एक दूसरा जौहरी उस बाजार में आया। घूमते-घूमते वह उस व्यापारी की दुकान के पास आ निकला। सहसा उसकी नजर उस पत्थर पर पड़ी और एकदम उसने उसे उठा लिया और पूछा, "क्या यह पत्थर बेचने के लिए है?"

व्यापारी ने कहा, "जी हाँ, कोई खरीदे तो बेच ही दूँगा।"

जौहरी ने कहा, "मैं इसे खरीदना चाहता हूँ। क्या लेंगे?"

व्यापारी समझदार था। समझ गया कि वह पत्थर किसी काम का है। उसने कहा, "आप बीस रुपए दे सकें तो इसे ले जाइए।"

जौहरी ने यह सुनकर एक क्षण उस व्यापारी की ओर देखा। फिर तुरंत जेब से बीस रुपए निकालकर उसे दे दिए। कुछ देर बाद पहला जौहरी फिर उस व्यापारी की दुकान पर आया, लेकिन अब तो वह पत्थर वहाँ नहीं था। घबराकर व्यापारी ने पूछा, "क्यों भाई, तुमने वह पत्थर उठाकर कहाँ रख दिया?"

व्यापारी ने उत्तर दिया, "उठाकर रखने की क्या जरूरत थी। मैंने तो उसे बेच दिया।"

जौहरी जैसे ठगा रह गया। उसके मुँह से निकला, "बेच दिया! सच?"

व्यापारी ने कहा, "हाँ-हाँ, बेच दिया। सभी तुम्हारे जैसे झक्की नहीं होते। तुम उसे खरीदना नहीं चाहते थे। अब इस तरह घबरा रहे हो।"

जौहरी ने किसी तरह सँभलकर पूछा, "ठीक है, ठीक है, लेकिन तुमने उसे बेचा कितने में?"

व्यापारी बोला, "पूरे बीस रुपए में बेचा है। जो उसे खरीदकर ले गया है उसने एक बार भी कीमत कम करने के लिए नहीं कहा।"

जौहरी ने कहा, "मूर्ख, वह जौहरी तुम्हें ठगकर ले गया। वह पत्थर तो रत्न था और उसका मूल्य था सवा लाख रुपया।"

व्यापारी ने उत्तर दिया, "श्रीमान्‌जी, मैं नहीं ठगा गया, ठगे तो आप गए, मैं तो उसे पहचानता नहीं था। एक रुपए में खरीदा था, बीस में बेच दिया। लेकिन धन्य है आपकी परख, एक पैसे में आपने सवा लाख का रत्न खो दिया। अब कहिए, मूर्ख आप हैं कि मैं?"

□

दो दोस्त

पूर्वी पंजाब के एक कसबे में दो मित्र रहते थे—मेहँदी हसन और भगीरथ लाल। दोनों को शतरंज का शौक था। एक दिन दोनों दोस्त बैठे खेल रहे थे। मेहँदी ने जब एक बार बहुत देर तक चाल नहीं चली, तो भगीरथ ने कहा, ''अरे भई, चलो न चाल।''

मेहँदी ने जवाब दिया, ''चलता हूँ। ऐसी भी क्या जल्दी है?''

''जल्दी क्या करेगी, एक घंटा हो चुका है।''

''आप एक घंटे की बात करते हैं, जनाब! एक जिंदगी गुजर जाती है, पर चाल नहीं चली जाती।''

''आग लगे ऐसी जिंदगी को! ऐसे लोग बुद्धू होते हैं।''

''बुद्धू नहीं जनाब, यह खेल शाही है।''

''इसमें शाही और बेशाही की क्या बात है? मैं जानता हूँ कि यह सब अपनी बेवकूफी को छिपाने की चाल है।''

बात बढ़ने लगी, पर बाजी नहीं बढ़ी। इस बार मेहँदी दब रहा था, तो दूसरी बार भगीरथ दब गया। लगा सोचने और गुनगुनाने। तब मेहँदी ने कहा, ''मियाँ, यह मुशायरा नहीं, शतरंज का खेल है। चाल चलो।''

''चलता हूँ।''

''चल चुके। खेलना जानते नहीं, चल दिए खेलने।''

''तुम बहुत जानते हो,'' भगीरथ ने झुँझलाकर कहा और वजीर को उठाकर आठ नंबर पर रख दिया, लेकिन हाथ से छोड़ा नहीं। मेहँदी ने देखा, तो खुशी से चिल्ला उठा। पर भगीरथ ने वजीर को उठाकर फिर पहली जगह पर रख दिया। मेहँदी चिल्लाकर बोला, ''वजीर को वहीं रख दो।''

"क्यों रख दूँ? अभी मैंने चाल चली कहाँ थी? मैं तो देख रहा था।"

"तुमने आठ नंबर पर वजीर नहीं रखा?"

"जी नहीं, मैंने उसे हाथ से नहीं छोड़ा था।"

"हाथ से नहीं छोड़ा। हाथ से जन्म भर नहीं छोड़ोगे, तो क्या चाल नहीं मानी जाएगी?"

"जी हाँ, नहीं मानी जाएगी।"

"कैसे नहीं मानी जाएगी? खेलना सीखो, रोते क्यों हो?"

"रोते तुम हो। हार रहे थे, तो लगे चिल्लाने।"

"हार तो तुम रहे हो। मोहरा वहीं रख दो।"

"नहीं रखता।"

"तुम मक्कारी करते हो।"

यह सुनना था कि भगीरथ तेज हो उठा। उसने शतरंज को जोर से लात मारी और क्रोध में भरकर कहा, "क्या बकते हो? किस बात का घमंड है तुम्हें? क्या समझा है तुमने? मैं भगीरथ हूँ। तुम्हारा मुँह तक नहीं देखूँगा। तुम्हारे पास तक आकर नहीं फटकूँगा।"

और भगीरथ सीधा अपने घर चला गया। घर आकर देर तक लेटा रहा। फिर जब धीरे-धीरे तेजी कुछ कम हुई, तो उसने उठना चाहा। तभी मेहँदी हसन का पुराना नौकर सामने आकर खड़ा हो गया।

भगीरथ उबल पड़ा, "क्या है?"

नौकर ने जवाब दिया, "यह चिट्ठी है।"

भगीरथ ने चिट्ठी ले ली। उसमें लिखा था, "मैंने तुमसे बहुत कर्ज लिया है। अब भी मुझे तुम्हारे कई सौ रुपए देने हैं। उनकी कोई तहरीर नहीं है। शायद तुम सोचते होगे कि मैं कभी इनकार कर सकता हूँ, इसलिए मैं उन रुपयों का रुक्का लिखकर भेज रहा हूँ।"

चिट्ठी पढ़कर भगीरथ शांत होने के स्थान पर और भी तेज हो उठा। रुक्के को पढ़ा तक नहीं। टुकड़े-टुकड़े करके बाहर फेंक दिया और चिल्लाकर कहा, "मुझे क्या समझा है? मैं इतना नीच हूँ कि रुक्का लिखवाऊँगा! अपने को नवाब समझते हैं। लाट साहब। लेकिन…"

नौकर उलटे पैरों भागा। भगीरथ ने तब और भी चिल्लाकर कहा, "कह देना, मैं इतना नीच नहीं हूँ कि किसी की नीयत पर शक करूँगा।"

नौकर ने घर आकर सबकुछ मेहँदी हसन को बता दिया। मेहँदी ने सुन लिया। क्षणभर कुछ सोचा, फिर उसका सारा शरीर काँपने लगा। न जाने क्या हुआ, जैसे खड़ा था, वैसे ही दौड़ पड़ा। सीधा भगीरथ के घर पहुँचा और उसकी कोली भर ली। भगीरथ पहले तो तमतमाया, अपने को छुड़ाने की कोशिश की, पर फिर पिघल गया।

कुछ देर बाद नौकर ने अचरज और हर्ष से देखा, दोनों मित्र फिर शतरंज की बाजी लगाए अट्टहास कर रहे हैं।

□

पूछने का सुख

एक जाने-माने लेखक महोदय तन्मय होकर अपने सृजन में लगे हुए थे। उनकी पत्नी पास ही बैठी थी। उसे भी लिखने का कुछ शौक था, पर लिखने से ज्यादा पढ़ने का था। इसलिए उतनी ही तन्मय होकर अपने पति की ही एक पुस्तक पढ़ रही थी कि सहसा उसका ध्यान भंग हुआ। घड़ी देखी, एक बज रहा था।

वह शीघ्रता से उठी और बोली, ''एक बज गया, मुझे खाना बनाने में देर हो गई।'' यह कहते हुए वह रसोई की ओर चली। फिर सहसा वह मुड़ी और अपने पति के पास आकर बोली, ''सुनिए, मैं खाना बनाने जा रही हूँ। बताइए, आज आपके लिए क्या बनाऊँ?''

पति महोदय लिखने में व्यस्त थे, इतने व्यस्त कि कुछ नहीं सुना। पत्नी ने अपना वाक्य दोहराया। सुनकर पति महोदय कुछ चिनचिनाते हुए और एक-एक शब्द पर जोर देते हुए बोले, ''तुम्हें मेरे साथ रहते हुए बीस वर्ष हो गए, लेकिन अभी तक यह भी नहीं जान सकीं कि मुझे क्या अच्छा लगता है, क्या बुरा!''

पत्नी ने तुरंत उत्तर दिया, ''आपको कलम घिसते हुए तीस वर्ष हो गए, लेकिन अब तक यह भी नहीं जान पाए कि पूछने का भी अपना एक सुख होता है।''

□

एक और विवाह

पति प्रसिद्ध लेखक थे। एक दिन अपनी पत्नी से लेखकों के संबंध में बातें कर रहे थे। अचानक बोले, ''देखो, कैसा युग आ गया है कि लेखक आसानी से दो-तीन विवाह कर लेते हैं। कुछ तो और भी आगे बढ़ जाते हैं। एक हमारे जैसे हैं, एक से आगे बढ़ ही नहीं सके।''

पत्नी मुस्कराई, बोली, ''बढ़ने का मन करता है?''

पति ने उत्तर दिया, ''हाँ, करता तो है। वे तीन-तीन, चार-चार विवाह कर लेते हैं। क्या मैं दो भी नहीं कर सकता!''

पत्नी बोली, ''क्यों नहीं कर सकते! कर लीजिए, किसने रोका है?''

पतिदेव हँसे, ''कर तो लूँगा, लेकिन तभी जब लड़की तुम छाँटकर लाकर दो।''

पत्नी स्वयं से मुस्कराई, ''वह भी ला दूँगी। तुम्हारे जूते भी तो मैं ही लाती हूँ।''

हतप्रभ पति कुछ कह पाते कि पत्नी उठकर अपने कमरे के दरवाजे पर पहुँची और बोली, ''इधर देखो।''

पतिदेव ने सकपकाते हुए उधर देखा। पत्नी ने एक-एक शब्द पर जोर देते हुए कहा, ''अच्छी तरह सुन लो, अगर मेरी जगह किसी को लाकर बिठाया तो पत्थर मार-माकर सिर फोड़ दूँगी।''

पति एकदम घबराए। फिर हँसने का नाटक करते हुए बोले, ''किसका सिर फोड़ोगी, उसका या मेरा?''

पत्नी उसी तीखे स्वर में बोली, ''हाँ नहीं तो, इतने वर्ष हो गए लिखते-लिखते, लेकिन मजाक करना अभी भी नहीं आया।''

□

आदमी का काम चलना

उन्हें प्रकृति से बड़ा प्रेम था। इसलिए जब मन चाहता, उत्तराखंड के तीर्थों के दुर्गम पथों पर निकल पड़ते लेकिन धार्मिक दृष्टि से नहीं। इस बार भी कई मित्र दल बनाकर यात्रा पर निकले थे। उनका और उनके एक मित्र का काम था कि अगले पड़ाव पर ठहरने और खाने-पीने का इंतजाम करें।

उस दिन वे दोनों यही काम करने के लिए अगले पड़ाव पर जा रहे थे कि सहसा उन्होंने देखा कि अगले पहाड़ पर से जोर-जोर से लुढ़क-लुढ़ककर पत्थर गिर रहे हैं। वे दोनों ठिठक गए। इधर-उधर चारों तरफ देखा कि शायद कोई और रास्ता हो, पर वहाँ तो वही एक पगडंडी थी, जो उस पहाड़ से सटकर जा रही थी। उन्हें लगा कि इस पगडंडी पर चले तो पत्थर हमारे ऊपर गिर पड़ेंगे।

वे सोच ही रहे थे कि क्या करें तो देखा, पीछे से एक पहाड़ी युवक कंधे की अप लाठी पर अपना सामान लाद, मस्ती से गाता हुआ चला आ रहा है।

उसने उन दोनों व्यक्तियों को देखा और पूछा, ''कहिए बाबू साहब, यहाँ कैसे खड़े हैं?''

एक युवक ने उत्तर दिया, ''आप देख नहीं रहे हैं, पहाड़ पर से कितने बड़े-बड़े पत्थर लुढ़कते हुए नीचे आ रहे हैं!''

पहाड़ी युवक मुस्कराया और बोला, ''बाबू साहब, पहाड़ों में पत्थर का काम गिरना होता है और आदमी का काम चलना।''

यह कहते हुए वह उसी मस्ती में गाता हुआ उसी पगडंडी पर आगे बढ़ता चला गया। दोनों युवक एक क्षण ठिठके और फिर चुंबक की तरह खिंचते हुए उसके पीछे-पीछे चल दिए।

□

चोट सही जाती है, कही नहीं जाती

केदारनाथ का मार्ग सौंदर्य की दृष्टि से जितना अप्रतिम है, चढ़ाई की दृष्टि से उतना ही बीहड़। सौंदर्य सदा काँटों के बीच ही सुरक्षित रहता है।

मार्ग बीहड़ है तो चोट भी बहुत लगती है। वह स्वयं अपनी चोटें देखकर चकित हुआ है। कैसे पैदा होता है अमिट साहस और विश्वास, यह वह उस दिन जान सका जब उसने एक वृद्धा को देखा। एक चट्टान पर से लुढ़क जाने के कारण उसे काफी चोट आई थी। पैदल चलना असंभव था। उसके साथ कई आदमी थे। उन्होंने उसे सहारा दिया। उसके जख्म साफ किए, दवा लगाई, खाने की दवा दी और उसके बाद उसे एक कंड़ी पर बैठा कर पट्टियाँ बँधी थीं। पीड़ा कभी-कभार कसक उठती थी, पर वह सदा की तरह शांत और हँसमुख बनी रही। सबसे उसी तरह प्यार से बातें करती रही।

अपने साथियों के साथ वह भी उसके पास गया। शिष्टाचारवश बड़ी विनम्रता से उसने कहा, ''माताजी, आपको तो बहुत चोट लगी है, फिर भी आप···''

बात काटकर वह प्यार से बोली, ''बेटे! तीर्थों में चोट सही जाती है, कही नहीं जाती।''

□

आप क्या माँ नहीं हैं

उनके घर में रोज महाभारत होता था। बहू निधि को इस घर में आए दो वर्ष हो गए थे। अब तो उसके पैर भी भारी हैं। फिर भी मार खाती है, क्योंकि उसके पिता ने अभी तक न तो बड़ा रंगीन टी.वी. भेजा, न दामाद के लिए मोटरसाइकिल।

निधि ने बहुत लिखा तो बस एक छोटा सा पुराने ढंग का श्वेत-श्याम टी.वी. सेट भेज दिया।

ननद कमला ने देखा तो व्यंग्य से खिलखिलाकर बोली, "माँ, देख तो, भाभी कैसी चतुर हैं! वह आने वाला है न छोटा सा शहजादा···।"

बात काटकर दहाड़ उठी उसकी माँ उर्फ निधि की सास, "शहजादेवाले भाग होते तो यह टी.वी. लाती। दामाद ने माँगी थी मोटरसाइकिल, भेज दी साइकिल। निगोड़े फकीर भी उनसे अच्छे होते हैं, जो दुआ तो दे देवें। इसका बापू तो भिखमंगा है, भिखमंगा।"

अब निधि अपने को न रोक सकी। चीख पड़ी, "मेरे पिताजी को आपने भिखमंगा कहा! भिखमंगे तो···।"

वह वाक्य पूरा कर पाती कि तड़ से एक तमाचा उसके गाल पर पड़ा, "हरामजादी! जबान लड़ाती है! कमला, बुला तो इसके खसम को···। वह बताएगा इसे···।"

बलराम इधर ही आ रहा था। बोला, "सब सुन लिया है मैंने। इसका तो सिर फिर गया है। मुझसे भी बहस करती है। कितना भी मारो-पीटो, जबान नहीं बंद होती।"

"कैसे नहीं होती! मैं करती हूँ इसकी जबान बंद।"

"कमला, तू रस्सी तो ला।"

"ना-ना," कमला तलघर से बोली, "यों नहीं मानने वाली। ऐसों का तो एक ही इलाज है। मैं मिट्टी के तेल की कनस्तरी लाती हूँ।"

और जब तक कनस्तरी लाती, बलराम ने उसे लात-घूँसों से धुन दिया और फिर माँ की सहायता से पलंग के पाए से कसकर बाँध दिया। मुँह पर पट्टी पहले ही बाँध दी थी। निधि ने बहुत जोर लगाया, अंदर-ही-अंदर चीखी, फिर एकाएक मौन हो गई। उसके मुँह की पट्टी ढीली होकर खुल गई थी।

कमला तब तक कनस्तरी ले आई थी। उसने निधि को सिर से पैर तक मिट्टी के तेल से तर कर दिया। बलराम ने माचिस की तीली जलाई।

तब तक पट्टी मुँह से नीचे खिसक चुकी थी। एक धमाका हुआ। निधि चीखी, "ठहरो, मैं माँजी से एक सवाल पूछना चाहती हूँ।"

इस आकस्मिकता ने उन तीनों को हतप्रभ कर दिया।

सँभलते-सँभलते निधि ने पूछा, "माँजी, आप औरत हैं न और हर औरत माँ होती है। आप मुझे इतना बता दें कि आप क्या 'माँ' नहीं हैं ?"

□

बड़ा कौन

गढ़वाल में भारत के अनेक प्रसिद्ध तीर्थस्थान हैं। चार उनमें विशेष प्रसिद्ध हैं—केदारनाथ, बदरीनाथ, यमुनोत्तरी और गंगोत्तरी।

पहले वहाँ जाने के लिए हरिद्वार से सारा मार्ग पैदल ही तय करना होता था। धीरे-धीरे बसें चलनी शुरू हुईं। पर सन् १९५० तक केदारनाथ के लिए रुद्र-प्रयाग से पैदल ही जाना पड़ता था। उसी मार्ग पर यात्रा करते हुए एक यात्री ने एक चट्टी के पास, एक वृद्ध पुरुष को बैठे देखा। वह बड़े शांत भाव से अपना गढ़वाली हुक्का पी रहा था। यात्री ने सहसा उससे पूछा, ''क्यों बाबा, तुमने रेल देखी है?''

उसने उत्तर दिया, ''नहीं बाबूजी हम तो यहाँ से कहीं गए नहीं, बस में भी नहीं बैठे।'' यात्री ने फिर पूछा, ''रेडियो तो सुना होगा।''

बाबा ने उत्तर दिया, ''बाबूजी, एक बार आप जैसे एक साहब इधर आए थे। उनके पास एक छोटा सा रेडियो था। उसमें कोई गा रहा था। वह गाना सुना था हमने।''

तभी एक दूसरे यात्री ने उसका फोटो खींचना चाहा। बाबा बहुत प्रसन्न हुआ। बोला, ''मेरा फोटो निकालोगे? गांधी बाबा की तरह मेरा फोटो निकालोगे?''

बाबा के मुँह से गांधी का नाम सुनकर यात्री को बड़ा कौतूहल हुआ। उसने पूछा, ''क्यों बाबा, क्या गांधी जिंदा हैं?''

बाबा ने दृढ़ता से जवाब दिया, ''हाँ बाबूजी वह जिंदा हैं।''

यात्री मुस्कराया ''पर मैंने तो सुना है, उन्हें किसी ने दिल्ली में गोली से मार डाला।''

बाबा ने दृढ़ता से उत्तर दिया, ''नहीं यह गलत है। गांधी को कौन मार सकता है। वह तो भगवान् का अवतार है।''

दूसरे यात्री को इन बातों में बड़ा रस आ रहा था। उसने पूछ लिया, ''और नेहरू?''

बाबा ने हुक्का गुड़गुड़ाते हुए कहा, ''नेहरू तो गंधी से भी बड़ा है।''

''कैसे?'' पहले यात्री ने अचकचाकर पूछा, ''क्या गांधी छोटा है?''

बाबा हँस बड़ा। बोला, ''गांधी का क्या बड़ा, क्या छोटा। वह तो भगवान् का अवतार है। भगवान् है, पर नेहरू उससे बड़ा है।''

दोनों यात्री एक साथ बोल उठे ''गांधी भगवान् है और नेहरू उससे बड़ा है!''

बाबा ने बड़े गंभीर पर शांत स्वर में उत्तर दिया, ''हाँ, वह बड़ा है, क्योंकि वह आदमी है और अपनी कला और विद्या से बड़ा बना है।''

वे यात्री बाबा की अज्ञानता पर हँसना चाहते थे। पर उसने उनके सारे ज्ञान को ही व्यर्थ कर दिया।

□

नाम की प्यास

वह एक जाने-माने लेखक थे। डाक भी बहुत आती थी उनके पास। उस समय वह सब काम छोड़कर सबसे पहले डाक देखते थे। पत्र-पत्रिकाएँ, मासिक और साप्ताहिक सबको छाँटकर अलग-अलग फाइलों में रखते जाते। सबको ध्यान से देखना उनका नियम था। विशेष रूप से स्थायी मूल्यवाली साहित्यिक पत्रिकाओं को वह एक खोजी की दृष्टि से देखते थे। उनमें भी विशेषकर उन लेखों को, जिनका संबंध उन विषयों से होता था, जिनमें वह लिखते थे।

कभी-कभी वह किसी लेख के किसी पैराग्राफ पर निशान लगाकर एक स्लिप लगा देते थे।

उनकी पत्नी यह सब देखती पर कुछ समझ नहीं पाती। एक दिन साहस करके उसने पूछ ही लिया, "आप हर लेख में क्या ढूँढ़ा करते हैं?"

पति महोदय ने उत्तर दिया, "मैं अपना नाम ढूँढ़ा करता हूँ।"

पत्नी मुस्कराई, बोली, "बड़े भोले हैं आप। व्यर्थ ही इतना परिश्रम करते हैं। आपका नाम तो हर पत्रिका में सबसे ऊपर लिखा रहता है।"

पति महोदय अचकचाए, बोले, "क्या कह रही हो तुम?"

"ठीक कह रही हूँ मैं।"

यह कहते हुए उसने तभी डाक में आई पत्रिकाएँ उठाईं और उनपर लिखे उनके पतों को रेखांकित करते हुए कहा, "यह देखिए, हर पत्रिका के रैपर पर सबसे पहले आपका नाम है न!"

और यह कहकर वह हँसती हुई रसोईघर की ओर भागी।

पति महोदय अचकचाए, रैपर को देखा और फिर एकदम से उठते हुए अपनी पत्नी से तीव्र स्वर में कहा, "ठहर तो मैं बताता हूँ तुझे।"

लेकिन पत्नी तो तब तक रसोईघर पहुँच चुकी थी। वहीं से बोली, ''अब इधर नहीं, गुसलखाने की ओर जाइए और स्नान कीजिए। मैं शीघ्र ही खाना लेकर आती हूँ।''

बेचारे पति महोदय चुपचाप गुसलखाने की ओर बढ़ गए।

□

मेरा लाल राजा से भी बड़ा

पुराने जमाने के किसी शहर में एक स्त्री रहती थी। घास छीलकर पेट पालती और राम का नाम लेती। उस काल की व्यवस्था के अनुसार उसकी जाति नीची थी। उसका शरीर जर्जर था, पर उस जर्जरता में जीवन चमकता था। इसका कारण उसकी भरी हुई गोद थी। उसके जीवन का वरदान उसकी छाती से चिपका हुआ था। स्नेह से विभोर वह उसे चूम लेती और कहती, 'मेरा लाल बहुत बड़ा, राजा से भी बड़ा।'

लोग सुनते और मुस्कराकर आगे बढ़ जाते। कुछ उसकी स्पर्धा पर कटाक्ष करते। कुछ उसे स्नेह का स्वर समझकर गद्‌गद होते; परंतु कुछ ऐसे भी थे, जो उस नीच वर्ग की माता के उन शब्दों को सुनकर कहते, 'छिह अभागिन नारी, तेरी इतनी स्पर्धा! तेरा काला-कलूटा बच्चा राजा से भी बड़ा। राजा वह जो परमेश्वर का स्वरूप है, जो स्वयं परमेश्वर है।'

पहले तो वह स्त्री सुनकर मुस्करा देती, परंतु उनका स्वर दिन-पर-दिन तीव्र होता गया। अपशब्द, ताड़ना सभी को बिखरे फूलों की तरह उसने अपने ऊपर लिया, परंतु कहती सदा यही रही, 'मेरा लाल बहुत बड़ा, राजा से भी बड़ा।'

अब और भी क्रुद्ध होकर उन लोगों ने कहा, 'राजा ने सुन लिया तो कोल्हू में पिलवा देंगे, तेरी सात पीढ़ियाँ तहखानों में सड़ेंगी, तेरी जाति-बिरादरी तेरे साथ सूली पर लटकेगी।'

सचमुच एक दिन राजा ने सुन ही लिया। व्यवस्था के कान लंबे होते हैं। सुनकर क्रोध उमड़ आया, बोले, "उस नीच नारी की इतनी स्पर्धा? उसे सभा में उपस्थित करो।"

दूत दौड़कर उस नीच नारी के घर पहुँचे और स्वर में तीव्रता लाकर करके बोले, "तुझे राजा ने बुलाया है।"

राजा ने बुलाया है!' उस स्त्री के संबंधी हठात् काँप उठे। लहू पानी बन गया और शरीर निर्जीव। लेकिन वह स्त्री थी शांत-गंभीर। काँपी वह भी, लेकिन उस तरह जिस तरह परीक्षा में सर्वप्रथम आनेवाला विद्यार्थी पारितोषिक लेते वक्त काँपता है। उसने आगे आकर कहा, "मैं राजा के पास चलूँगी।"

राजा की सभा इंद्र-सभा की तरह सजी हुई थी। मणि-मुक्ताओं से जड़ित स्वर्ण सिंहासन पर राजा शांत, गंभीर बैठे थे। ऋषिवर्ग काषाय वस्त्र धारण किए राजा के दाहिनी ओर गंभीरता में बृहस्पति के अनुरूप लग रहे थे। बाईं ओर काषेय वस्त्रों में महातेजधारी प्रधान तथा अन्य मंत्री, सचिव तथा सामंत थे। फिर वर्गाकार स्थिति में अन्य व्यवस्था अधिकारी, आत्मीय, नागरिक तथा सुधीगण थे। शूद्रगण अपने-अपने स्थानों पर स्तंभ की तरह स्थिर थे। सर्वत्र मौन व्याप्त था। ऐसे ही समय उस स्त्री को लेकर दूतों ने राज-सभा में प्रवेश किया। सब की दृष्टि एक साथ उठी और क्षण भर के लिए उठी कि उठी रह गई, "अरे! इस नीच स्त्री की इतनी स्पर्धा!"

स्त्री ने गोद के बालक को जमीन पर बैठाकर राजा को साष्टांग दंडवत् किया। बोली, "राज-राजेश्वर की जय हो।"

राजा कठोर हुए, "तुम कहती हो कि तुम्हारा बेटा राजा से भी बड़ा है?"

स्त्री के नेत्र पृथ्वी में गड़े रहे, "जी राज-राजेश्वर।"

"अब भी कहती हो?"

"जी, राज-राजेश्वर।"

राजा क्षण भर के लिए विचार-मग्न होकर बोले, "कारण बता सकती हो?"

स्त्री ने पहली बार सिर उठाया। वह काँप रही थी। उसके चेहरे का रंग बदल रहा था। उसने हाथ जोड़कर कहा, "राज-राजेश्वर की जय हो! एक प्रार्थना है।"

"कहो!" राजा बोले।

"एक विषधर नाग मँगा दीजिए।" स्त्री ने प्रार्थना की।

"विषधर नाग?"

"जी, राज-राजेश्वर।" स्त्री ने दृढ़ होकर कहा।

उस स्त्री की प्रार्थना राजा की आज्ञा के कारण पूरी की गई। कुछ ही क्षणों में फुंकारते हुए नागराज को लेकर सपेरा वहाँ आ गया। सभा में भय की एक लहर दौड़ गई, लेकिन वह स्त्री उसी तरह काँपती हाथ जोड़े खड़ी थी। उसने फिर कहा,

"एक और प्रार्थना है, राज-राजेश्वर।"

"कहो।"

"राज-राजेश्वर! मैं प्रार्थना करती हूँ कि आपकी सभा में जो मनुष्य इस नाग को पकड़ सके, वह आगे आ जाए।"

सभा में मौत का सा सन्नाटा साकार हो उठा। कोई नहीं बोला, कोई नहीं हिला। राजा बोले, "अभागिन नारी, इसे पकड़कर कौन मरना चाहेगा? यह तो काल है!"

स्त्री मुस्कराई, "राजन...जो काल के प्रेम को जीत सकता है, क्या ऐसा कोई भी व्यक्ति सभा में नहीं है?"

"नहीं।" राजा बोले।

"है," स्त्री ने नम्रता से कहा।

"कौन?" राजा के साथ सारी सभा चिल्ला उठी।

"यह बच्चा।" स्त्री ने कहा और शीघ्रता से अपने बच्चे को उठाकर नागराज की पिटारी के पास बिठा दिया। पलक मारते यह सब हो गया। सभा भूचाल के झटके से हिल उठी। राजा उस क्षण देख भी नहीं सके, पर जब स्थिर होकर सबने देखा तो वह काला-कलूटा बच्चा किलकारी मारकर हँस रहा था और नागराज परम स्नेही बंधु की तरह उसके हाथों को चूम रहे थे।

तब उस स्त्री ने गर्व से गद्‌गद होकर कहा, "मेरा लाल बहुत बड़ा, राजा से भी बड़ा।"

□

पिता और पुत्र

वनवास के समय अर्जुन जब इधर-उधर घूम रहे थे, तो वह मणिपुर भी गए थे। वहाँ पर उन्होंने राजकन्या चित्रांगदा से विवाह किया था। इसी समय नाग-कन्या उलूपी से भी उनका विवाह हुआ था। विवाह के बाद अर्जुन कुछ समय तक मणिपुर में रहे और फिर हस्तिनापुर लौट गए। उनके पीछे चित्रांगदा ने एक पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम था बभ्रुवाहन। चूँकि मणिपुर के राजा के कोई संतान नहीं थी, इसलिए बभ्रुवाहन नाना के राज्य के उत्तराधिकारी हुए।

महाभारत के युद्ध में विजय पाकर पांडव एक बार फिर दिग्विजय पर निकले। अनेक देशों पर विजय प्राप्त करते हुए अर्जुन फिर मणिपुर आए। पिता के आगमन का समाचार पाकर बभ्रुवाहन को बहुत खुशी हुई। वह बड़े ठाट के साथ उनका स्वागत करने के लिए नगर के बाहर पहुँचा। उसकी सौतेली माँ उलूपी भी साथ थी। वास्तव में उसी ने बभ्रुवाहन का लालन-पालन किया था। अर्जुन ने जैसे ही अपने पुत्र को इस प्रकार आते हुए देखा तो वह क्रुद्ध हो उठा। बोला, "अरे मूर्ख! अपने प्राणों के मोह के कारण ही मुझे अपना पिता कहता है। तुझे लज्जा नहीं आती? यदि तू सचमुच अर्जुन का पुत्र होता तो अर्जुन के समान ही सीना तानकर उसके सामने आता। यदि मैं यह मान भी लूँ कि तू सचमुच अर्जुन का पुत्र है, तो भी क्या होता है? आज मैं तेरा पिता बनकर तुझसे मिलने नहीं आया हूँ। मैं तेरा शत्रु हूँ और दिग्विजय के लिए आया हूँ। जब लोगों को यह मालूम होगा कि अर्जुन के पुत्र ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली तो वे क्या कहेंगे? उस समय मुझे कितनी वेदना होगी। मेरा पुत्र इतना कायर, ओह! मैं नहीं जानता था कि चित्रांगदा तेरे जैसे नपुंसक पुत्र की माता होगी। वरना मैं क्यों उससे विवाह करता? यदि तू मेरे सामने शत्रुओं की तरह धनुष ताने हुए मेरा सामना करने के लिए, मुझे पराजित

करने के लिए ललकारता तो आत्म-गौरव के कारण मेरा वक्षस्थल फूल उठता। तू मुझे पराजित करता। लेकिन वही मेरी विजय होती। संसार को यह कहने का अवसर मिलता कि अर्जुन का पुत्र अर्जुन से बढ़कर निकला। लेकिन अब संसार क्या कहेगा? यही न कि अर्जुन का पुत्र कायर है। कुरु-कुल को कलंकित करनेवाला है। ऐसा सुनकर मैं आत्म-ग्लानि से गड़ नहीं जाऊँगा? क्या चित्रांगदा का मुँह काला नहीं पड़ जाएगा? धिक्कार है उसे, और धिक्कार है मुझे!''

बभ्रुवाहन के काटो तो खून नहीं। उसका चेहरा मलिन हो गया, लेकिन वह कुछ उत्तर देता इससे पहले नागकन्या उलूपी नागिन की भाँति फुंकार उठी। अर्जुन का एक-एक शब्द उसके वक्ष को भेद रहा था। उसने एक बार तिरस्कार के साथ अपने पति की ओर देखा। फिर बभ्रुवाहन से बोली, ''हे पुत्र! या तो तू इस पांडु-सुत का मान मर्दन कर इसके झूठे गर्व को खंड-खंड कर दे या फिर मुझे और अपनी माता चित्रांगदा को मार डाल। क्षत्राणी मर सकती है, लेकिन अपना अपमान नहीं सह सकती। इस पांडु-सुत ने तेरी माता चित्रांगदा का आज घोर अपमान किया है। वह इस समय यहाँ नहीं है, लेकिन मैं तो हूँ। उसने केवल तुझे जन्म दिया है, किंतु मैंने तो तेरा पालन-पोषण किया है। तेरे ऊपर मेरा पूर्ण मातृ-अधिकार है, इसलिए चित्रांगदा का अपमान मेरा अपमान है। पांडु-सुत ने ये सब अपशब्द मुझे ही लक्ष्य करके कहे हैं।''

कहते-कहते नागकन्या के नयन रक्तवर्ण हो उठे और वह घायल सिंहनी के समान गरज उठी, ''हे पुत्र! युद्ध के लिए प्रस्तुत हो जा। यह पांडु-पुत्र तुझसे अधिक बलवान् नहीं हो सकता। इसने तुझे कायर कहा है। तेरी माँ को कायर कहा है; किंतु यह वह दिन भूल गया, जब द्रौपदी की साड़ी खींची गई थी, जब भरे दरबार में दुर्योधन ने उसको लात मारी थी, जब यह स्वयं प्राणों के भय से राजा विराट के यहाँ बृहन्नला बनकर नाचा-गाया करता था। सर्वनाशी महाभारत के युद्ध में विजय पाकर यह अपने सामने आज किसी को कुछ नहीं समझता। मानो समस्त पृथ्वी वीरों से शून्य हो गई है। यदि मैं आज इसकी पत्नी न होती तो मैं स्वयं युद्ध-भूमि में उतरती। परंतु मेरा पतिव्रत धर्म ऐसा करने की आज्ञा नहीं देता। इसलिए हे पुत्र! अपनी माता के अपमान का बदला लेने के लिए तू इस पांडु-सुत का मान मर्दन कर और इसे बतला दे कि तूने सचमुच किसी वीर क्षत्राणी का दूध पिया है।''

पिता के अपमान भरे शब्दों से वीर बभ्रुवाहन का रक्त उत्तेजित होता जा रहा था। उलूपी के ये ओजस्वी शब्द सुनकर उसका वक्ष तन गया। उसने तलवार निकाल ली और यह कहते हुए कि मेरी माँ का अपमान करनेवाला जीवित नहीं

रह सकता, अर्जुन पर आक्रमण कर दिया। अर्जुन भी युद्ध के लिए प्रस्तुत था। देखते-देखते पिता-पुत्र में घमासान युद्ध छिड़ गया। सारा मणिपुर चकित होकर इस अद्भुत युद्ध को देखने लगा। दोनों बराबर के वीर थे, लेकिन बभ्रुवाहन युवक था। इसलिए अंत में उसने अपने पिता को पराजित करके मूर्च्छित कर दिया।

युद्ध बंद हो गया। माता और पुत्र का स्नेह-स्पर्श पाकर अर्जुन ने आँखें खोलीं। उसके मुख पर स्नेह का दिव्य प्रकाश चमक रहा था। बभ्रुवाहन को उसने ललककर छाती से लगा लिया और गद्गद होकर बोला, ''पुत्र, तू सचमुच वीर है। मेरा पुत्र ऐसा ही हो सकता है।''

और फिर उलूपी तथा चित्रांगदा की ओर देखकर अर्जुन प्यार से मुस्कराने लगे। उनके घायल हो जाने का समाचार पाकर चित्रांगदा स्वयं भी वहीं आ गई थी और उनका मस्तक अपनी गोद में रखे बैठी थी।

□

ब्राह्मण कौन

प्राचीनकाल में चंद्रवंश में एक प्रतापी राजा राज्य करता था। बाद में वह विश्वामित्र के नाम से प्रसिद्ध हुए। एक बार वे अपनी सेना के साथ युद्धभूमि से लौट रहे थे। मार्ग में ब्रह्मर्षि वसिष्ठ का आश्रम पड़ा। उन्होंने राजा का बहुत स्वागत-सत्कार किया और वहीं पर भोजन करने के लिए प्रार्थना की।

राजा ने सोचा—वन में रहनेवाले यह ब्रह्मर्षि मेरी इतनी बड़ी सेना को कहाँ से भोजन खिलाएँगे? इसलिए उन्होंने विनम्रतापूर्वक ब्रह्मर्षि का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया।

ब्रह्मर्षि बोले, ''आप इस बात की चिंता न कीजिए। सब प्रबंध हो जाएगा।''

ऐसा ही हुआ भी। ब्रह्मर्षि के पास उन दिनों कामधेनु थी। उसकी कृपा से उन्होंने नाना प्रकार के व्यंजनों से राजा की समस्त सेना को तृप्त कर दिया। यह देखकर राजा का मन डोल गया। उन्होंने ब्रह्मर्षि से प्रार्थना की कि वह कामधेनु उन्हें दे दें।

लेकिन ब्रह्मर्षि ऐसा नहीं कर सकते थे। कामधेनु देवताओं की थी। उन्होंने मना कर दिया। परंतु राजा का मन तो डोल उठा था। वह नहीं माने और कामधेनु को चुराकर ले गए।

कामधेनु ने ब्रह्मर्षि से गुहार की और अपने तप के बल से ब्रह्मर्षि वसिष्ठ ने एक बहुत बड़ी सेना को पैदा किया। घोर युद्ध हुआ। विश्वामित्र की सेना पराजित हुई। वह और भी क्रुद्ध हो उठे। बार-बार उन्होंने ब्रह्मर्षि के आश्रम पर आक्रमण किया। तब ब्रह्मर्षि ने अपने ब्रह्मतेज से एक दंड का निर्माण किया। विश्वामित्र अब कुछ न कर सके और उनका सारा बल ब्रह्मतेज के सामने व्यर्थ हो गया। वह समझ गए कि ब्राह्मण क्षत्रियों से ऊँचे होते हैं। इसी ब्राह्मणत्व को प्राप्त करने के लिए

उन्होंने घोर तप किया।

धीरे-धीरे उनकी तपस्या इतनी कठोर हो उठी कि देवता और मनुष्य, मुनि और ऋषि, तपस्वी और योगी सभी ने यह स्वीकार किया कि यह राजा ब्राह्मण होने के सर्वथा योग्य है।

लेकिन ब्रह्मर्षि वसिष्ठ इस बात को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने कहा, ''विश्वामित्र अभिमान के वश होकर यह कठोर तपस्या कर रहे हैं। जो त्याग अभिमान पर आधारित है, वह सच्चा त्याग नहीं है। इसलिए मैं उनको ब्राह्मण स्वीकार नहीं करता।''

जब विश्वामित्र को यह समाचार मिला तो वह क्रोध से जल उठे और उन्होंने वसिष्ठ के सौ पुत्रों को मरवा डाला। ब्रह्मर्षि वसिष्ठ को इससे बहुत दुःख हुआ। शोक के कारण वह विचलित-से हो उठे। लेकिन अपनी बात पर वह दृढ़ रहे। उनके विचार में जो सत्य नहीं था, उसे वह कभी स्वीकार नहीं कर सकते थे। विश्वामित्र ब्राह्मण नहीं हो सकते थे, क्योंकि उन्होंने अभी क्रोध को भी नहीं जीता था।

विश्वामित्र ने सुना। उनके तन-बदन में अग्नि प्रज्वलित हो उठी। क्रोध के कारण वह पागल हो गए और उन्होंने निश्चय किया कि मैं वसिष्ठ को मार डालूँगा। इस निश्चय को पूरा करने के लिए वह वसिष्ठ के आश्रम की ओर चल पड़े। क्रोध आदमी को अंधा कर देता है। विश्वामित्र भी अंधे हो गए थे। आश्रम में पहुँचकर वह उनकी कुटिया के पीछे जा छिपे कि अवसर पाकर अंदर घुसें और वसिष्ठ को मार डालें।

सहसा उसी समय उन्होंने सुना कि अंदर ब्रह्मर्षि वसिष्ठ किसी से बातें कर रहे हैं। बस, सबकुछ भूलकर वह उन बातों को सुनने लगे। उन्होंने सुना कि ब्रह्मर्षि उनके तप की प्रशंसा कर रहे हैं। उनके मन में विश्वामित्र के प्रति न क्रोध है और न ही ईर्ष्या। वह शुद्ध और पवित्र होने के साथ-साथ क्षमा से परिपूर्ण हैं। जैसे-जैसे विश्वामित्र उन वचनों को सुनते गए वैसे-वैसे उनका मन निर्मल होता चला गया। आखिर उनसे रहा नहीं गया। जिन अस्त्रों से वह वसिष्ठ को मारना चाहते थे, उनको उन्होंने वहीं फेंक दिया और अंदर जाकर ब्रह्मर्षि के चरणों में गिर पड़े।

वसिष्ठ ने राजा को देखा। बड़े प्रेम से उनका स्वागत किया और कहा, ''ब्रह्मर्षि···।''

विश्वामित्र हठात् उनकी ओर देखने लगे। बोले, ''महर्षि, आपने मुझे 'ब्रह्मर्षि' कहकर पुकारा। क्या आप यह बताने की कृपा करेंगे कि इससे पहले आपने मेरी तपस्या का आदर क्यों नहीं किया था?''

वसिष्ठ ने उत्तर दिया, ''क्योंकि तब आप शक्ति के मद में आकर ब्राह्मण-पद की माँग कर रहे थे।''

विश्वामित्र बोले, ''और अब?''

वसिष्ठ ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया, ''अब तो आपको पश्चात्ताप हो रहा है। यही सच्ची ब्राह्मण-वृत्ति है। आपने इसे स्वीकार कर लिया है, इसलिए मैंने आप को ब्रह्मर्षि कहकर पुकारा।''

और उसके बाद दोनों ब्रह्मर्षि परम मित्र हो गए। यह सब इसी कारण तो हुआ कि वसिष्ठ निडर होकर बिना किसी प्रतिशोध की भावना के सच बोलना जानते थे और विश्वामित्र अपने अपराध को पहचानकर उसके लिए पश्चात्ताप कर सकते थे। इसी प्रकार सत्य बोलना कितना सुंदर है, चाहे ऐसा करने में कितनी ही विपत्ति उठानी पड़े और इसी तरह अपना अपराध स्वीकार करना भी अच्छा है, चाहे ऐसा करने में कितना ही छोटा क्यों न बनना पड़े! ऐसा करके ही विश्वामित्र इतने बड़े बन गए।

□

यक्ष और युधिष्ठिर

पाँचों पांडव वनवास की अवधि पूरी होने की प्रतीक्षा कर रहे थे। एक दिन एक हिरण के पीछे भागते-भागते वे बहुत थक गए। हिरण कहीं गायब हो गया और प्यास के मारे पाँचों भाइयों के प्राणों पर आ बनी। बड़े भाई की आज्ञा पाकर नकुल एक पेड़ पर चढ़े और देखा कि कुछ दूर पर पानी के पास उगनेवाले कुछ पौधे दिखाई दे रहे हैं, कुछ बगुले भी बैठे हैं।

बस नीचे उतरकर वह उसी ओर चल दिए। लेकिन बहुत देर हो जाने पर भी वापस नहीं लौटे। तब चिंतित होकर युधिष्ठिर ने सहदेव को भेजा। सहदेव भी बहुत देर तक नहीं लौटे तो अर्जुन को भेजा। लेकिन अर्जुन भी नहीं लौटे। बाट जोहते-जोहते युधिष्ठिर व्याकुल हो उठे। उन्होंने भीमसेन से कहा, ''देखो तो वे सब कहाँ रह गए?''

लेकिन भीमसेन भी लौटकर नहीं आए। अब तो युधिष्ठिर स्वयं उसी ओर चल पड़े। बड़ी दूर जाने पर वह एक तालाब के पास पहुँचे। देखते क्या हैं—उनके चारों भाई वहाँ मरे पड़े हैं। उनका हृदय असह्य शोक से तिलमिला उठा। वे रोने लगे। रोते-रोते उन्होंने बड़े ध्यान से भाइयों के शरीरों को देखा। कोई घाव नहीं, कोई परिवर्तन नहीं, ऐसा लगता है जैसे थककर सो गए हों। कहीं आस-पास कोई शत्रु भी तो नहीं। अवश्य दुर्योधन ने इस पानी में विष मिला दिया है।

यह सोचकर वे भी तालाब की ओर बढ़े। तभी सहसा किसी ने पुकारकर कहा, ''सावधान! तुम्हारे भाइयों ने मेरी बात नहीं मानी, तुम भी अगर ऐसा ही करोगे, तो उसका परिणाम अच्छा नहीं होगा। यह तालाब मेरा है। पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, फिर पानी पियो।''

धर्मात्मा युधिष्ठिर समझ गए कि यह यक्ष है। बोले, ''अच्छी बात है। मैं आपके प्रश्नों का उत्तर दूँगा। पूछिए।''

यक्ष ने पूछा, "सूर्य किसकी आज्ञा से प्रतिदिन उगता है?"

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "ब्रह्म अर्थात् परमात्मा की प्रेरणा से।"

यक्ष ने पूछा, "मनुष्य का साथ सदा कौन देता है?"

युधिष्ठिर बोले, "धैर्य।"

यक्ष ने पूछा, "धरती से भारी चीज क्या है?"

युधिष्ठिर बोले, "संतान को कोख में धारण करनेवाली माता।"

यक्ष ने पूछा, "आकाश से भी ऊँचा कौन है?"

युधिष्ठिर बोले, "पिता।"

यक्ष ने पूछा, "हवा से भी तेज कौन चलता है?"

युधिष्ठिर बोले, "मन।"

यक्ष ने पूछा, "सुख क्या है?"

युधिष्ठिर बोले, "जो शील और सच्चरित्रता पर आधारित है, वही सुख है।"

यक्ष ने पूछा, "वह क्या है, जिसके खो जाने से दुःख नहीं होता?"

युधिष्ठिर बोले, "क्रोध।"

यक्ष ने पूछा, "वह क्या है, जिसको खोकर मनुष्य धनी हो जाता है?"

युधिष्ठिर बोले, "लालच।"

यक्ष ने पूछा, "युधिष्ठिर, अच्छी तरह सोचकर बताओ कि ब्राह्मण का होना किस बात पर निर्भर है। जन्म पर, विद्या पर या शील पर?"

युधिष्ठिर बोले, "शील पर। शील के बिना कोई ब्राह्मण नहीं हो सकता। चारों वेदों का जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया है, लेकिन उसका चरित्र भ्रष्ट है तो वह ब्राह्मण नहीं है, नीच है।"

इस प्रकार यक्ष ने और भी अनेक प्रश्न किए। लेकिन युधिष्ठिर बिना किसी हिचक के सबके ठीक-ठीक उत्तर देते चले गए। अंत में यक्ष बोला, "धर्मराज युधिष्ठिर, मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। तुम्हारे चार भाइयों में से एक को जिला सकता हूँ। बोलो, किसको जिलाऊँ?"

युधिष्ठिर ने एक क्षण सोचा। फिर कहा, "जिसका रंग साँवला है और आँखें कमल के समान हैं। जिसकी छाती विशाल है और भुजाएँ लंबी-लंबी हैं, वही मेरा भाई नकुल आपकी कृपा से जीवित हो उठे।"

युधिष्ठिर अपना वाक्य पूरा भी न कर पाए थे कि यक्ष उनके सामने प्रकट हो गया। बोला, "युधिष्ठिर, मैंने तो सुना है कि जिसके शरीर में दस हजार हाथियों का बल है, उस भीमसेन को तुम सबसे अधिक प्यार करते हो। उसको

छोड़कर तुमने नकुल को जिलाना क्यों ठीक समझा? कम-से-कम अर्जुन को ही जिलाने की बात कहते। वह तुम्हारी बार-बार रक्षा करता रहा है। अपने इन दो रण बाँकुरे भाइयों के सामने तुम नकुल को क्यों इतना चाहते हो?''

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, ''यक्षराज! मनुष्य की रक्षा न तो भीम करता है, न अर्जुन, धर्म ही मनुष्य की रक्षा करता है। धर्म ही मनुष्य का नाश करता है। मैं नकुल को क्यों चाहता हूँ, यह बड़ी सीधी सी बात है। मेरे पिता की दो पत्नियाँ थीं। कुंती का पुत्र मैं जीवित हूँ। माद्री का भी एक पुत्र जीवित रहना चाहिए। नकुल उन्हीं का पुत्र है। आपकी कृपा से वही जीवित हो।''

गद्‌गद होकर यक्ष ने कहा, ''मेरे प्यारे पुत्र, तुम पक्षपात से रहित हो। तुम्हारे चारों ही भाई जीवित हो उठें।''

स्वयं धर्मराज यक्ष का रूप धारण करके आए थे। इससे पहले हिरण का रूप भी उन्होंने ही धारण किया था। वह अपने पुत्र युधिष्ठिर की परीक्षा लेना चाहते थे। उनके इन गुणों पर मुग्ध होकर उन्होंने उन्हें छाती से लगा लिया और कहा, ''तुम्हारे वनवास की अवधि पूरी होने वाली है। अज्ञातवास का समय भी तुम सफलता से पूरा कर लोगे। तुम्हें कोई पहचान नहीं सकेगा।''

यह कहकर धर्मराज चले गए और पाँचों भाई भी प्रसन्न होकर अपने स्थान पर लौट आए।

□

पतिव्रता का प्रभाव

महर्षि भृगु अपने समय के महान् तपस्वी थे। वह ब्रह्मदेव के पुत्र थे और उनके पुत्र का नाम था—च्यवन। च्यवन भी परम तपस्वी थे। पुष्कर क्षेत्र में उन्होंने घोर तपस्या आरंभ की। युग बीत गए। उनका शरीर धूल से भर गया। दीमकों के ढेर के भीतर उनकी देह छिपने लगी। उनकी गरदन में साँप लटकने लगे। उनकी जटाओं में पक्षियों ने घोंसले बना लिये। दूर से देखने पर ऐसा लगता था कि वहाँ दीमकों का टीला है।

एक बार महाराज शर्याति मृगया की कामना से पुष्कर क्षेत्र में आए। उनके साथ उनका परिवार भी था। उसमें उनकी तरुणी कन्या सुकन्या भी थी। वह जैसी सुंदर थी, वैसी ही बुद्धिमती भी थी। पिता की बड़ी लाड़ली थी। वन की शोभा निरखते हुए वह उसी ओर जा निकली, जहाँ च्यवन ऋषि कठोर तपस्या कर रहे थे। राजा को यह बात मालूम थी। उन्होंने आदेश दिया था कि कोई व्यक्ति उनकी तपस्या में विघ्न न डाले। इसलिए कोई भी उधर नहीं जाता था। लेकिन सुकन्या तो राजा की लाड़ली थी। ऋषि को इस अवस्था में देखकर उसके मन में बहुत कौतूहल हुआ। उसके साथ के बालकों ने महर्षि को बूढ़ा और निकम्मा जानकर बहुत परेशान किया। ऋषि क्रुद्ध हो उठे। राजा ने सुना तो तुरंत वहाँ आए और उन्होंने तपोवृद्ध च्यवन ऋषि को देखा, तो सिर झुकाकर प्रणाम किया तथा बालकों के अपराध के लिए क्षमा माँगी। तपस्वी का हृदय कोमल था। उसने एक शर्त पर राजा को क्षमा कर दिया और वह शर्त यह थी कि सुकन्या का विवाह उनके साथ ही कर दिया जाए।

राजा यह सुनकर बड़े दुःखी हुए, लेकिन यह प्रस्ताव उन्हें स्वीकार करना ही पड़ा। सुकन्या स्वयं भी इसके लिए प्रस्तुत थी। उसने सहर्ष महर्षि के साथ विवाह करना स्वीकार कर लिया। यही नहीं, राजा के चले जाने पर वह बड़ी लगन

से बूढ़े महर्षि की सेवा करने लगी। आश्रम में जैसे जीवन लौट आया। देखते-देखते चारों ओर उसका यश फैल गया।

एक बार अश्विनीकुमार उस आश्रम में आ निकले। उन्होंने सुंदर सुकन्या को देखा और देखकर परिचय पाकर कहा, "अरे, तुम इस आश्रम के योग्य नहीं हो! तुम जैसी सुंदरी को तो किसी राजा से विवाह करना चाहिए था। यह सफेद दाढ़ीवाला और दंतविहीन मुखवाला तुम्हारा पति होने के योग्य नहीं है। सो तुम हममें से किसी एक को अपना पति वरण करके जीवन को आनंद से बिताओ।"

सुकन्या अश्विनीकुमार को पहचानती थी। बोली, "भारतीय ललनाएँ रूप का नहीं, हृदय का व्यापार करती हैं। परिणय ही पति-पत्नी के हृदय को बाँधनेवाला है। पति की सेवा ही मेरा परम धर्म है।"

अश्विनीकुमार तो परीक्षा लेने आए थे। राजकुमारी की बातें सुनकर उन्हें बहुत संतोष हुआ। वे देवताओं के वैद्य थे। उन्होंने च्यवन के साथ पुष्कर में गोता मारा। बाहर निकलते ही सबने आश्चर्य से देखा—दो की जगह तीन अश्विनीकुमार थे। एक जैसे सुंदर और एक जैसे सुहावने। लेकिन सुकन्या तो पतिव्रता थी। अपने पति को पहचानने में उसे देर न लगी। आश्रम में चारों ओर आनंद बहने लगा।

च्यवन ऋषि ने अश्विनीकुमार के इस उपकार को गद्‌गद होकर स्वीकार किया और प्रतिज्ञा की कि इस उपकार के बदले अश्विनीकुमार को सोमरस पीने का अधिकारी बनाऊँगा।

उस समय तक देवता अश्विनीकुमार को अपने समान सोमरस पीने का अधिकारी नहीं मानते थे। राजा शर्याति ने जब यह समाचार सुना तो वह आश्रम में आए। महर्षि के रूप को देखकर उन्हें बड़ा सुख हुआ और महर्षि ने उनसे एक विराट् यज्ञ का आयोजन करने को कहा। उस यज्ञ के अंत में उन्होंने अश्विनीकुमार को दूसरे देवताओं के साथ सोमरस पीने के लिए निमंत्रित किया। यह देखकर इंद्र क्रुद्ध हो उठा। उसने च्यवन ऋषि को चुनौती दी, लेकिन च्यवन ऋषि ने भरे मंडप में इंद्र के सामने ही गंभीर स्वर में कहा, "हे देवतागण, अश्विनीकुमार आयुर्वेद के पंडित हैं। वे शरीर की रक्षा करते हैं। ऐसे जगत् का कल्याण करनेवाले प्राणाचार्यों का तिरस्कार नहीं करना चाहिए। शरीर ही धर्म का साधन है। शरीर खराब हो जाए तो धर्म नहीं ठहर सकता। अश्विनीकुमार ने अनेक ऋषियों, नारियों, राजाओं, देवताओं, दैत्यों, महर्षियों के प्राणों की बार-बार रक्षा की है। हे देवाधिदेव! देवताओं तथा मानवों का सहयोग आवश्यक है। मैं चाहता हूँ कि आज से संसार आयुर्वेद के महत्त्व को समझे। मैं दोनों भाइयों को सोमरस पिलाऊँगा। समार्थ्य हो तो कोई मुझे रोके।"

□

धन का लोभ

इक्ष्वाकु-मंडल के अधिपति महाराजा हरिश्चन्द्र बहुत दुःखी रहते थे। सौ रानियों के होते हुए भी उनके घर में एक भी पुत्र नहीं था। सूना राजमहल उन्हें काट खाने को दौड़ता। संयोग की बात है कि एक दिन महर्षि नारद उधर आ निकले। राजा के दुःख का कारण जानकर वह बोले, ''पुत्र-प्राप्ति के लिए वरुण से सच्चे हृदय से प्रार्थना करो। वरुण सर्व-शक्तिमान हैं, सर्वज्ञ हैं। सच्चे हृदय और सरल भाव से की गई प्रार्थना को वह अवश्य स्वीकार करेंगे।''

नारद की आज्ञा मानकर हरिशचन्द्र ने गद्गद स्वर में वरुण देव से प्रार्थना की, ''भगवन्, यदि मेरे घर में पुत्र उत्पन्न होगा तो मैं उस पुत्र को ही आपकी सेवा में समर्पित कर दूँगा।''

वरुण ने महाराज की प्रार्थना स्वीकार की और समय पाकर उनके घर में सब गुणों से संपन्न एक पुत्र का जन्म हुआ। सारे राज्य में आनंद की मस्ती छा गई। तभी सहसा वरुण देव वहाँ आए। राजा से बोले, ''अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार इस बालक को मुझे दे दो।''

राजा ने नम्र भाव से कहा, ''तुरंत का उत्पन्न बालक यज्ञ के उपयुक्त नहीं होता। आप दस दिन बाद आएँ''

वरुण दस दिन बाद आए। राजा ने इस बार भी उन्हें लौटा दिया। राजा बार-बार समय आगे बढ़ाते रहे और वरुण देव बार-बार आते रहे। राजकुमार का नाम रोहित रखा गया। उसके दूध के दाँत टूट गए, नए दाँत पैदा हो गए। फिर वह युवा हुआ। उसने कवच धारण किया। इस समय राजा ने अपने पुत्र को सबकुछ बता दिया। कहा, ''वरुण की कृपा से तुम्हारा जन्म हुआ है। अब तुम युवा हो गए हो, पवित्र हो। मैं तुम्हें वरुण को दूँगा।''

रोहित ने ये बातें सुनी तो चुपचाप वह वहाँ से जंगल की ओर चला गया।

धीरे-धीरे बारह महीने बीत गए, पर वह नही लौटा। उसके अंग-अंग में वीर रस उमड़ रहा था। वह वरुण के पास नहीं जाना चाहता था। वरुण क्रुद्ध हो उठे और इस क्रोध का परिणाम यह हुआ कि राजा को जलोदर रोग ने आ घेरा। थोड़े दिनों में उनके प्राणों पर आ बनी। जंगल में रोहित ने भी यह समाचार सुना। वह बहुत दुःखी हुआ और घर की ओर लौट पड़ा। लेकिन एक विचित्र पुरुष ने उसे रोक लिया और दूसरे वर्ष, तीसरे वर्ष, लगातार पाँच वर्ष तक ऐसा ही होता रहा। राजा का रोग बढ़ रहा था। रोहित उनके पास आना चाहता था। लेकिन हर बार वह पुरुष उसे रोक देता था।

ऐसे ही समय एक दिन उसने तीन पुत्रों के साथ एक ऋषि-दम्पती को देखा। अन्न न मिलने के कारण वे सूखकर काँटा हो रहे थे। ब्राह्मण का नाम अजीर्गत था। रोहित को सहसा सूझा—क्यों न इसके एक पुत्र को मैं खरीद लूँ और अपने बदले वरुण को भेंट कर दूँ। बस उसने ऋषि से निवेदन किया कि सौ गाय लेकर वह अपने एक पुत्र को उसे दे दें।

ऋषि ने अपनी पत्नी की ओर देखा और पत्नी ने ऋषि की ओर। भूखे थे, सो दोनों ही इस प्रस्ताव से सहमत हो गए। लेकिन पिता ने कहा, ''मैं अपने ज्येष्ठ पुत्र को नहीं दूँगा।''

माता बोली, ''मैं कनिष्ठ पुत्र को नहीं बेच सकती।''

लाचार होकर रोहित ने पुत्र शुनःशेप को ले लिया और लौट आया। राजा पुत्र को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसकी बातें सुनकर उसने यज्ञ की तैयारी शुरू कर दी। स्वार्थ ने उसे अन्धा कर दिया था। कई दिन तक यज्ञ होता रहा और चंदन तथा पुष्पमाला से सजा हुआ शुनःशेप अपने मरने की राह देखता रहा। एक दिन वह अवसर आ गया जब उसे यूप से बाँधाजाने वाला था। ऋषियों का मन डोल उठा। लेकिन उसके पिता अजीगर्त ने अपने प्यारे पुत्र को रस्सियों से जकड़कर खम्बे से बाँध दिया। बदले में उसे सौ गायें मिलीं। इसके बाद बलि का समय आया। इस बार ऋषि लोग काँप उठे। लेकिन अजीगर्त सौ गायें लेकर अपने ही पुत्र का सिर काटने को तैयार हो गया। जनता काँपी उठी—यह कैसा पिता है कि जिस पुत्र को उसने जन्म दिया, उसी को धन के लोभ में मारने को तैयार हो गया है।

तभी शुनःशेप ने ब्राह्मणों से सलाह की और वह परमात्मा की विभूतियों से प्रार्थना करने लगा। वेद-मंत्रों की ध्वनि से सारा मंडल गूँज उठा। उस प्रार्थना में इतनी करुण थी कि सहसा शुनःशेप के शरीर के सब बंधन टूट गए। वह मुक्त हो गया और देखते-ही-देखते राजा हरिश्चन्द्र का रोग भी दूर हो गया। ऋत्विक लोग बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने शुनःशेप से ही यज्ञ में पूर्णाहुति दिलवाई।

यज्ञ सानंद समाप्त हो गया। लेकिन अपने पिता के इस व्यवहार से शुन:शेप के हृदय को बहुत ठेस लगी और वह उनको छोड़कर विश्वामित्र की गोदी में जा बैठा। पिता ने कहा, ''हे पुत्र! मेरे रहते तुम विश्वामित्र को अपना पिता कैसे मान सकते हो।''

क्रुद्ध होकर शुन:शेप ने उत्तर दिया, ''शूद्र लोग भी अपने पूत्र का वध नहीं करते, लेकिन आपने सौ गायों की कीमत मुझसे अधिक समझी और तलवार से मेरा सिर काटने को तैयार हो गए।''

पिता ने कहा, ''मैं बहुत दु:खी हूँ। पश्चात्ताप से मेरा हृदय जल रहा है। यह गायें तुम्हारी हैं।''

पुत्र ने उत्तर दिया, ''सदाचारी, एक बार भी भूल करता है तो वह महा-अपराधी होता है। पिता ही जब पुत्र का वध करने को तैयार हो जाए तो उसे कभी क्षमा नहीं किया जा सकता।''

महर्षि विश्वामित्र ने भी शुन:शेप का समर्थन किया और कहा, ''तुमने भरे समाज में पुत्र को मारने के लिए तलवार उठाई थी। हे धन के लालची! तुम अब इसके पिता नहीं रहे। यह अब मेरा पुत्र है।''

महर्षि के ऐसे कठोर पर सत्य वचन को सुनकर अजीगर्त का सिर झुक गया और शुन:शेप हमेशा के लिए उससे छीन गया।

□

व्रत का पारण

राजा अंबरीष सूर्यवंश के राजा त्रिशंकु के पुत्र थे। उनके विषय में यह प्रसिद्ध है कि जिस प्रकार राज्य शासन के कार्य में वह दक्ष थे, उसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन में भी उन्हें यश प्राप्त था। धीरे-धीरे उन्होंने अपने शासन को उत्तम और आदर्श बना दिया। उसके बाद उन्होंने राज्य को मंत्रियों को सौंप दिया और स्वयं यज्ञ और स्वाध्याय के कार्य में लगे रहने लगे। वह सच्चे त्यागी पुरुष थे, इसलिए इतना करके ही संतुष्ट नहीं हुए। एक दिन सबकुछ छोड़कर वन में चले गए और घोर तपस्या करने लगे।

उनकी तपस्या की कोई सीमा नहीं थी। वह इतनी कठोर थी कि सुनने वाले भी काँप उठते थे। उनकी ऐसी निष्ठा देखकर स्वयं भगवान् उनके पास आए। लेकिन इससे पहले उन्होंने राजा की परीक्षा लेने के लिए इंद्र का रूप धारण किया और बार-बार वर माँगने के लिए कहने लगे। परंतु अंबरीष तो अंबरीष थे। उन्होंने देवराज से स्पष्ट शब्दों में कहा, ''देवराज, आप मुझे प्रलोभन मत दीजिए। मैंने किसी वर के लिए नहीं, भगवान् की प्राप्ति के लिए तपस्या की। उनके दर्शन किए बिना मैं कुछ नहीं कर सकता।''

तब भगवान् अपने रूप में प्रकट हुए और बोले, ''वत्स अंबरीष, मैंने ही तुम्हारी परीक्षा लेने के लिए इंद्र का रूप धारण किया था। अब तुम निःसंकोच वर माँग लो।''

अंबरीष बहुत प्रसन्न हुए। बोले, ''भगवन्, आपके दर्शन कर लिये, अब माँगने को और क्या रह जाता है। फिर भी मेरी एक यही आकांक्षा है कि सारे संसार में वैष्णव भावना का प्रचार हो।''

भगवान् बोले, ''ऐसा ही होगा। इसके अतिरिक्त मैं तुम्हें यह भी वर देता हूँ कि मेरा सुदर्शन चक्र सदा तुम्हारी रक्षा करेगा।''

यह वर पाकर अंबरीष फिर अयोध्या लौट आए और राज का काम देखने लगे। उनके राज्य में सद्गुणों का प्रचार और भी बढ़ गया। अकाल का नाम भी कोई नहीं जानता था। पृथ्वी धन-धान्य से भरी रहती थी। प्रजाजन सुख और शांति से रहने लगे थे। राजा ने सौ वाजपेय यज्ञ भीं किए।

एक बार राजा ने कार्तिक महीने की एकादशी का व्रत किया। व्रत के बाद द्वादशी के दिन पारण करने को तैयार हुए। उसी समय महाक्रोधी दुर्वासा ऋषि वहाँ आ पहुँचे। राजा ने उनका विधिपूर्वक आदर-सत्कार किया और भोजन करने की प्रार्थना की। दुर्वासा बोले, "मैं यमुना में स्नान किए बिना भोजन नहीं कर सकता, इसलिए स्नान करने को जा रहा हूँ, दोपहर तक लौट आऊँगा, तब भोजन करूँगा।"

दुर्वासा चले गए। अब राजा उनको भोजन कराए बिना स्वयं पारण नहीं कर सकते थे। राह देखते-देखते दोपहर बीत गया, संध्या भी बीतने लगी। राजा व्याकुल हो उठे। व्रत का पारण कैसे हो? और अतिथि से पहले वह भोजन कैसे करें।

तभी ब्राह्मणों ने कहा, "दुर्वासा ऋषि तो न जाने कब तक आएँ, आप तब तक चरणामृत लेकर पारण कर लीजिए। उनके आ जाने पर फिर आप अन्न ग्रहण कीजिए। भगवान् का चरणामृत लेने में अतिथि से पहले भोजन करने का पाप नहीं लगता।"

राजा ने ब्राह्मणों का आदेश मानकर चरणामृत ले लिया। ठीक इसी समय दुर्वासा ऋषि आ पहुँचे। अपने तपोबल से वह सबकुछ जान चुके थे। इसलिए क्रोध से उबल पड़े और राजा को अपशब्द कहने लगे। इतना करने पर भी उनका क्रोध शांत नहीं हुआ तो उन्होंने राजा को मारने के लिए एक पिशाचिनी पैदा की। परंतु राजा की रक्षा तो स्वयं भगवान् का चक्र सुदर्शन कर रहा था। जैसे ही पिशाचिनी राजा को मारने के लिए आगे बढ़ी, सुदर्शन चक्र ने अपने तेज से उसको जला डाला और फिर वह दुर्वासा ऋषि की ओर बढ़ा।

यह देखकर तो दुर्वासा ऋषि काँप उठे। भागने के अलावा और कोई मार्ग नहीं था। यमलोक, ब्रह्मलोक, शिवलोक, जहाँ भी वह जाते, चक्र उनके पीछे-पीछे पहुँच जाता। किसी भी देवता ने उन्हें शरण नहीं दी। अंत में वह भगवान् विष्णु के लोक में पहुँचे और करुण स्वर में प्रार्थना करने लगे, "भगवान्; आप शरणागत के रक्षक हैं। चक्र से मेरी रक्षा कीजिए। मैं तो आपके भक्त अंबरीष की प्रशंसा सुनकर उनकी परीक्षा लेने गया था। इस च्रक से मेरी रक्षा कीजिए।"

भगवान् बोले, "ऋषिवर, मैं आपकी रक्षा नहीं कर सकता। आप अंबरीष की ही शरण में जाइए। वह अवश्य आपकी रक्षा करेंगे।"

दुर्वासा ऋषि अयोध्या लौटे और उन्होंने बड़े दीन भाव से राजा अंबरीष से क्षमा-याचना की और कहा, ''इस चक्र से मेरी रक्षा कीजिए।''

राजा अंबरीष तो भगवान् के परम भक्त थे। उन्होंने दुर्वासा ऋषि का पूर्ववत् आदर-सत्कार किया। अपने पास बिठाया। फिर सुदर्शन चक्र से प्रार्थना की, ''अपना तेज समेटकर ऋषि को अभय कर दो।''

यह सुनकर सुदर्शन चक्र ने दुर्वासा ऋषि का पीछा करना छोड़ दिया और इसके साथ ही महाक्रोधी दुर्वासा का घमंड भी छूट गया।

□

संवेदना के अटपटे सूत्र

दो यायावर एक देश में पहुँचे। नारी वहाँ पुरुष से प्रबल थी। उन्हें अचानक उसी देश के किसी दूर-दराज के दूसरे नगर में जाना पड़ा। समय को देखते हुए वह यात्रा वायु-मार्ग से ही संभव हो सकती थी।

लेकिन उनकी निराशा की कोई सीमा नहीं रही, जब उन्हें लगा कि उस दिन जानेवाले किसी भी यान में कोई स्थान रिक्त नहीं है।

"अब?" दूसरे यायावर ने दुखी स्वर में कहा।

अपने स्वभाव के अनुसार पहले यायावर ने उत्तर दिया, "चिंता मत करो, हम जाएँगे और आज ही जाएँगे।"

"पर कैसे?"

प्रश्न की चिंता किए बिना पहले यायावर ने कहा, "आओ, उनके कार्यालय में चलते हैं।"

एक विशाल कक्ष में अनेक ग्रुपों में बैठे थे उनके किरानी और अफसर; उनमें अधिकांश महिलाएँ थीं। वे मुस्करातीं और सिर हिला देतीं, "आज कोई स्थान नहीं है।"

"पर हमारा जाना नितांत आवश्यक है और हम परदेशी हैं।"

एक युवती ने उत्तर दिया, "जब स्थान ही नहीं है तो देश-परदेशी का क्या अर्थ है?"

अचानक पहले यायावर ने देखा कि उत्तर की ओर जो प्रकोष्ठ है, वह अपेक्षाकृत बड़ा है। उसके बीच एक ऊँची चौकी है और उसपर रखी कुरसी पर एक अपेक्षाकृत कृष्ण वर्ण कृशकाय युवती बैठी है। किसी भी दृष्टि से उसे सुंदर नहीं कहा जा सकता था, पर निश्चय ही वह किसी ऊँचे पद पर है। क्षण भर में एक युक्ति सूझ गई है उसे। उसके थोड़ा पास जाकर ऊँचे पर प्रार्थना-भरे स्वर में

कहा, ''क्या आप हमारी सहायता करेंगी?''

युवती ने चकित-विस्मित दृष्टि उठाकर उस सौम्यदर्शन विदेशी को देखा। दृष्टि क्षण भर झिझकी फिर मिली। स्थान से उठकर उनके पास आई, ''कहिए, मैं आपके लिए क्या कर सकती हूँ?''

पहले यायावर ने मानो युगों का परिचय हो, ऐसे स्वर में कहा, ''हम अमुक देश के यायावर हैं। आपके सुंदर देश के अमुक नगर में हमारा आज ही पहुँचना आवश्यक है...''

युवती ने विवशता के स्वर में कहा, ''पर वहाँ की बुकिंग तो कभी की बंद हो चुकी है। कोई स्थान शेष नहीं है।''

''वह तो हम जानते हैं, तभी तो आपकी शरण में आए थे। आप प्रबंध कर सकती हैं।''

युवती मुस्कराई, ''आप कैसे जानते हैं?''

अंत:प्रेरणा मैडम, अंत:प्रेरणा! आपको देखकर हमें लगा कि आप कुछ कर सकती हैं।''

युवती के चेहरे पर सहसा एक दीप्ति फैल गई, जिस कारण उसका असुंदर चेहरा भी आकर्षक हो उठा। वह हँसी और बोली, ''मैं तो कुछ नहीं कर सकती, पर एक रास्ता बताती हूँ आपको। वह सामने केबिन नं. ८ है। उसमें एक बड़े अधिकारी बैठे हैं। उनके पास चले जाइए। वे मना करेंगे, पर आप तब तक न उठिए जब तक वे 'हाँ' न कर दें और मेरी चर्चा बिलकुल न कीजिए। प्रभु यीशु की कृपा से आपका काम हो जाएगा।''

और यह कहकर उसने दोनों यायावरों की ओर प्रेम से हाथ हिलाया और चली गई। वे दोनों यायावर मुड़कर उस केबिन में चले गए, जहाँ वह रोबदार अफसर बैठा हुआ था। उसने आश्चर्य से उनको देखा, पूछा, ''आप कहाँ से आए हैं और क्या चाहते हैं?''

पहले यायावर ने अपनी समस्या विस्तार से उन्हें समझाते हुए कहा, ''हमें आज वहाँ पहुँचना बहुत जरूरी है। हमें हवाई जहाज के दो टिकट चाहिए।''

''दो टिकट! वहाँ की दोनों उड़ानें भर चुकी हैं, अब मैं क्या कर सकता हूँ?''

''आप चाहें तो सबकुछ कर सकते हैं। हमें वहाँ होने वाली संगोष्ठी के बारे में लिखना है। किसी भी तरह हो...।''

''हूँ...'' उस अफसर ने फोन उठाया। एक नंबर, दो नंबर, तीन नंबर, चौथे नंबर पर उन्होंने कहा, ''हमारे कोटे में दो सीटें शेष हैं। वे मुझे चाहिए।''

उधर से उत्तर आया, ‘‘ले लीजिए।’’

फोन रखकर उन्होंने एक पत्र लिखा और पहले यायावर को देते हुए कहा, ‘‘केबिन नं. १२ में चले जाइए। आपको टिकट मिल जाएँगे।’’

दोनों यायावरों के चेहरे खिल उठे, उन्होंने गद्‌गद होकर कहा, ‘‘आपका यह उपकार कभी नहीं भूलेंगे। ये हमारे कार्ड हैं, कभी जरूरत हो तो…।’’

उन्होंने कार्ड लिये, सहज भाव से धन्यवाद दिया। दोनों यायावर बाहर जा रहे थे तो सोच रहे थे कि वे किसके ऋणी हैं, इन अफसर के या युवती के।

बाहर आकर उन्होंने उस युवती की ओर देखा और खुशी में भरकर हाथ हिलाया। उसने भी उत्तर में उत्फुल्ल भाव से हाथ हिलाया। तब उसके नयनों में संतृप्ति की जो दीप्ति चमक उठी थी, वही मानवता की पहचान थी।

□

दो चित्र

वह प्रतिदिन अजमेरी गेट से मंडी हाउस जाता था। प्रतिदिन चार, पाँच तिपहिए स्कूटर उसको ले जाने से इनकार कर देते थे और प्रतिदिन अंततः वह तिपहिए स्कूटर से ही वहाँ पहुँचता था।

वह जानता था कि वहाँ पहुँचने पर सही मीटर चार रुपए बीस पैसे दिखाएगा, पर आश्चर्य उस दिन वह तीन रुपए सत्तर पैसे दिखा रहा था। उसने ड्राइवर से कहा, ''तुम्हारा मीटर खराब है।''

''कैसे बाबू जी?''

''वह तीन रुपए सत्तर पैसे दिखा रहा है, जबकि होने चाहिए चार रुपए बीस पैसे।''

''ओह! तो यह बात है। मैं भी सवेरे से इसी सोच में था कि गाड़ी तेल पूरा खा रही है, पर पैसे कम आ रहे हैं। किसी ने बताया ही नहीं। आप ही पहले आदमी हैं। अब मैं पहले इसे ठीक करवाऊँगा तब सवारी लूँगा।''

उसने उसे साढ़े चार रुपए दिए। उसके चेहरे पर कृतज्ञता की हलकी सी मुस्कान उभरी और वह चला गया।

अगले दिन फिर वही क्रम। सबकुछ पूर्ववत् पर मंडी हाउस पहुँचने पर उसने मीटर देखा तो वह चार रुपए सत्तर पैसे दिखा रहा था। उसने ड्राइवर से कहा, ''तुम्हारा मीटर एकदम खराब है।''

''क्यों?''

''क्योंकि यहाँ तक चार रुपए बीस पैसे आते हैं। तुम्हारा मीटर पचास पैसे ज्यादा दिखा रहा है। तुम लोग इस तरह हेरा-फेरी करके लोगों को ठगते हो।''

ड्राइवर ने तुरंत तेजी से जवाब दिया, ''जी हाँ, मैंने पचास पैसे की बेईमानी करके आपको ठगा है। मानता हूँ, लेकिन मैं पूछता हूँ कौन नहीं कर रहा बेईमानी।

ठगी आजकल आप नहीं करते, बाजार में बैठा दुकानदार, दफ्तरों में बैठे बाबू, कारखानों, मिलों के मालिक, सेठ लोग और हमारी यह सरकार—बताओ ये सब बेईमानी नहीं करते, नहीं ठग रहे हमें ? ये तो सैकड़ों, हजारों, लाखों रुपए की ठगी करते हैं, पर मेरे पचास पैसे आपको अखर गए···वे तो आपकी जाति के हैं न···।''

उसने बिना एक शब्द बोले पाँच का एक नोट निकाला और उसके हाथ में थमा दिया।

□□□

अपने साहित्य में भारतीय वाग्मिता और अस्मिता को व्यंजित करने के लिए प्रसिद्ध रहे **श्री विष्णु प्रभाकर** का जन्म २१ जून, १९१२ को मीरापुर, जिला मुजफ्फरनगर (उ.प्र.) में हुआ था। उनकी शिक्षा-दीक्षा पंजाब में हुई। उन्होंने सन् १९२९ में चंदूलाल एंग्लो-वैदिक हाई स्कूल, हिसार से मैट्रिक की परीक्षा पास की। तत्पश्चात् नौकरी करते हुए पंजाब विश्वविद्यालय से भूषण, प्राज्ञ, विशारद, प्रभाकर आदि की हिंदी-संस्कृत परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। उन्होंने पंजाब विश्वविद्यालय से ही बी.ए. भी किया।

विष्णु प्रभाकरजी ने कहानी, उपन्यास, नाटक, जीवनी, निबंध, एकांकी, यात्रा-वृत्तांत आदि प्रमुख विधाओं में लगभग सौ कृतियाँ हिंदी को दीं। उनकी 'आवारा मसीहा' सर्वाधिक चर्चित जीवनी है, जिस पर उन्हें 'पाब्लो नेरूदा सम्मान', 'सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार' सदृश अनेक देशी-विदेशी पुरस्कार मिले। प्रसिद्ध नाटक 'सत्ता के आर-पार' पर उन्हें भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा 'मूर्तिदेवी पुरस्कार' मिला तथा हिंदी अकादमी, दिल्ली द्वारा 'शलाका सम्मान' भी। उन्हें उ.प्र. हिंदी संस्थान के 'गांधी पुरस्कार' तथा राजभाषा विभाग, बिहार के 'डॉ. राजेंद्र प्रसाद शिखर सम्मान' से भी सम्मानित किया गया।

विष्णु प्रभाकरजी आकाशवाणी, दूरदर्शन, पत्र-पत्रिकाओं तथा प्रकाशन संबंधी मीडिया के विविध क्षेत्रों में पर्याप्त लोकप्रिय रहे। देश-विदेश की अनेक यात्राएँ करनेवाले विष्णुजी जीवनपर्यंत पूर्णकालिक मसिजीवी रचनाकार के रूप में साहित्य-साधनारत रहे।

स्मृतिशेष : ११ अप्रैल, २००९।

विष्णु प्रभाकर का कथा साहित्य

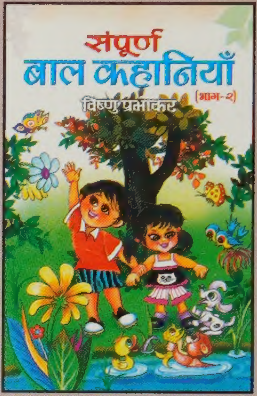

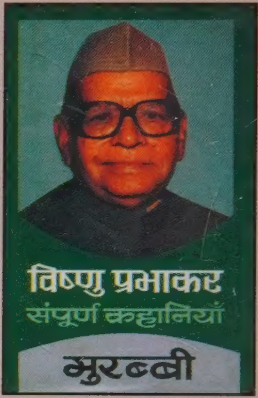

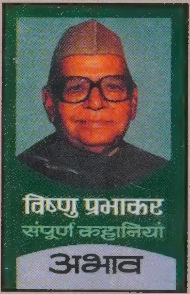

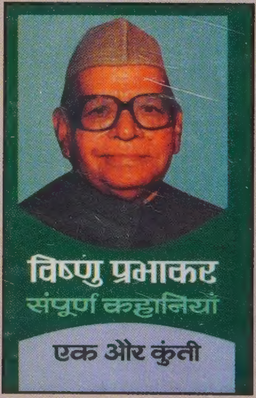

ISBN 978-81-7315-714-1

9 788173 157141

Rs. 20

प्रभात प्रकाशन, दिल्ली™
ISO 9001 : 2008 प्रकाशक